विचार ही मार्ग

स्वामी निरंजन

विचार ही मार्ग

स्वामी निरंजन

संयोजिका : मिकारानी

प्रकाशक : **निरंजन बुक् ट्रष्ट**
प्रथम मुद्रण : **वैशाखी –२०११**
मुद्रण एवं अलंकरण : **दिव्य मुद्रणी,** भुवनेश्वर – २ (उड़िसा) फोन : २३४०१३६
प्रच्छद प्रस्तुति : **विभु**
मूल्य : ₹ **60/-**

प्रस्तावना

प्रायः देखा जाता है कि जो वस्तु अप्राप्त होती है उसे प्राप्त करने के लिये प्रार्थी को साधन करना पड़ता है । जैसे पौधे तक गये बिना एक पत्र अथवा पुष्प की भी प्राप्ति नहीं होती है । यही धारणा साधकों के मन में परमात्मा के सम्बन्ध में स्थान ग्रहण किये हुए हैं कि वह परमात्मा बिना साधन के कैसे प्राप्त हो सकेंगे ? विचार करने से मालुम पड़ता है कि कर्म का कर्ता कर्म से पांच प्रकार के ही लाभ उठा पाता है । १) प्राप्ति, २) उत्पत्ति, ३) विकार, ४) संसार, ५) नाश । इस लोक से लेकर ब्रह्म लोक पर्यन्त जो कुछ भी साधन कर प्राप्त करते हैं, वह नाशवान एवं दुःख रूप पदार्थ होते हैं ।

(प्रमाण : गीता ९/३३, ९/२१, ८/१६)

अब परमात्मा के लिये इन्हीं साधनों का प्रयोग करके देखते हैं तो ज्ञात होता है कि परमात्मा इस कर्म क्षेत्र की वस्तु नहीं है । क्योंकि वह १. नित्य प्राप्त २. अजन्मा ३. अविकारी, ४. नित्यशुद्ध तत्त्व है । अब रहगया परमात्मा के प्राप्ति में नाश रूप कर्म का उपयोग । तो विचार करने से ज्ञात हुआ की परमात्मा और जिज्ञासु के बीच भेद न होने से किसी भी प्रकार का आवरण मध्य में विद्यमान नहीं है । केवल एक स्वरूप अज्ञान ही दिखाई पड़ता है ।

अब इस अज्ञान का नाश किसी कर्म से नहीं बल्कि एकमात्र ज्ञान से ही होगा, जैसे अन्धकार का नाश एकमात्र प्रकाश से ही होता है । अन्य करोड़ों साधनों से नहीं ।

वेद भी कहता है ज्ञान से ही मुक्ति होती है, ज्ञान बिना मुक्ति नहीं है । क्योंकि सभी प्रकार के कर्म चित्त शुद्धि के बाद परमात्मा की अनुभूति में निष्प्रयोजनीय हो जाते हैं । गीता ३/१७ वहाँ तो फिर एकमात्र विचार ही साधन रह जाती है ।

अप्राप्त वस्तु के लिये तो कर्म साधन आवश्यक होता है किन्तु जो वस्तु पहले से प्राप्त होती है उसके लिये कर्म नहीं बल्कि विचार, ज्ञान ही मात्र साधन है । जिसे सद्गुरु तत्त्वमसि के रूप में उद्घोष करते हैं । यही बात शंकराचार्य जी ने विवेक चुड़ामणी में कहा है –

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तुपलब्धये ।
वस्तुसिद्धि विचारेण न किन्चित् कर्म कोटिभि ।।

साधकों के मन में परमात्मा प्राप्ति सम्बन्धी जो मन्त्र, माला, प्राणायाम, ध्यान, समाधि आदि साधनों के प्रति जो द्वन्द्व व संशय है उससे उन्हें मुक्ति दिलाने हेतु यह वेदान्त का सार **'विचार ही मार्ग'** पुस्तक प्रकाशित होने जा रहा है।

यदि जीव का बन्धन वास्तविक होता तो फिर वह ज्ञान मात्र से, विचार मात्र से कभी निवृत्त नहीं होता किन्तु वेद तो अविचार से बन्धन एवं विचार द्वारा मुक्ति की घोषणा कर रहा है, (पैङ्गल उप. २) । तो फिर यह निश्चय रूप से खाजना चाहिये कि जीव का बन्धन वास्तविक नहीं है । ज्ञान द्वारा,विवेक–विचार मात्र से जो वस्तु प्राप्त हो जाती है, वह वस्तु पूर्व से ही सिद्ध होती है ।

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति ग्रामन्तरमेव वा ।
अज्ञान हृदय ग्रन्थिश्छेदो इति स्मृत: ।।

शिव गीता १३ अध्याय

हे साधकों ध्यान रहे ! मोक्ष नाम का कोई पदार्थ न किसी परलोक में है न इस लोक के किसी स्थान विषेश में है । मोक्ष तो जीव

का सहज सिद्ध स्वरूप है किन्तु अनादि अज्ञान के कारण जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल देह संघात् में मैं बुद्धि कर जन्म–मृत्यु का दु:ख भोग रहा है । अत: इस अनात्म अध्यास का मन से निवृत्त हो जाना ही मुक्ति है ।

विचार कीजिये यदि नाम, रूपधारी भगवान के दर्शन, स्पर्श, प्रेम तथा सम्बन्ध रूप भेद भक्ति द्वारा ही जीव का परम कल्याण हो जाता, तो फिर भक्ति माता को ज्ञान, वैराग्य इन दो पुत्रों की प्रसव पीड़ा न सहना पड़ती ।

सुनिये ! नारद ऋषि सदा साकार भगवान के धाम में व सानिध्य में रहते,साथ विचरते थे किन्तु शोक–मोह के दु:ख से मुक्त नहीं हो सके । तब सनकादिकों से प्रार्थना करते हैं कि मैंने सुना है सर्व व्यापि ब्रह्म शोक–मोह से रहित है, किन्तु मैं तो शोक – मोह से ग्रसित हूँ। अत: आप दया करके मुझे उस भूमा का उपदेश कीजिये ताकि मैं इस शोक–मोह संताप से मुक्त हो सकुँ । इस प्रार्थना को सुनकर भगवान ने नारद को उपदेश किया :–**'तरति शोकं आत्मवित्'** । हे नारद ! जो सद्गुरु की शरण ग्रहण कर निज आत्म स्वरूप को 'वह मैं हूँ' इस प्रकार जान लेता है, वही भाग्यशाली शोक–मोह के पार हो जाता है । **'यो वै भूमा तत सुखम्'** ब्रह्म ही अखण्डानन्द रूप है । **'ना अल्पं सुखमस्ति'** नाशवान् क्षणभंगुर पदार्थों में सुख नहीं है । यह दिव्य उपदेश श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा अर्थात् अपना स्वरूप का विचार द्वारा ही नारद शोक–मोह से मुक्त हो पाये ।

अब अर्जुन की स्थिति देखिये जो भगवान के प्रिय सखा,सम्बन्धी थे, सदा साथ भी रहते थे । अर्जुन के मन में सेवा भाव व भक्ति भी अनन्य थी, किन्तु बन्धन का मूल देह में आत्म बुद्धि और अज्ञान का नाश नहीं हो पाया था । गीता २/२ में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि तुझ में यह अज्ञान इस समय कहाँ से आगया? २/३३

में कहते हैं यदि तू मेरी बात नहीं मानेगा तो तू दुःख को प्राप्त होगा और १८/५८ में पुनः अर्जुन को कहते हैं यदि अहंकार वश मेरे वचनों को न सुनेगा तो तू नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थ से तू भ्रष्ट हो जायगा । जब भगवान के मुख से इस प्रकार भयानक वचन सुने तब अर्जुन ने प्रार्थना की कि हे प्रभो! मेरा मन धर्म के विषय में मूढ़ता को प्राप्त हो चुका है, इसलिये मैं आप से पूछता हूँ कि मेरे लिये जो कल्याणकारी उपदेश हो वह अब मेरे लिये कहने की कृपा करें । क्योंकि अब मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये शरण आये को शिक्षा दीजिये। तब भगवान ने दिव्य गीता ज्ञान उपदेश कर अर्जुन से पूछा –

कच्चिदेतच्छ्‌तं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ।।

गीता : १८/७२.

हे अर्जुन ! क्या इस गीता शास्त्र को तूने श्रद्धा सहित एकाग्र चित्त से श्रवण किया और क्या तेरा अज्ञान जनित मोह नष्ट हो सका ?

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।।

गीता : १८ ७३.

अर्जुन ने कहा हे गुरुदेव ! आपके दिव्य गीता ज्ञानोपदेश द्वारा मेरा देह भाव नष्ट हो गया और मुझे अपने अनादि से भूले आत्म स्वरूप की स्मृति जाग्रत हो गई । अब मैं संशय रहित होकर स्थित हूँ ।

अज्ञान जनित मोह तो आत्म ज्ञान द्वारा ही निवृत्त होता है। यदि भक्ति द्वारा नाश होजाता तो अर्जुन जैसे परम भक्त को गीता उपदेश सुनाने का कष्ट भगवान को न करना पड़ता ।

भागवत एकादश स्कन्ध के ३७,३८,३९ श्लोक में उद्धव ने भगवान के सम्मुख यह स्वीकार किया कि हे प्रभो ! अब तक मैं अन्धकार में भटक रहा था किन्तु आपके द्वारा ज्ञानोपदेश श्रवण कर अब मैं

अज्ञान जनित अन्धकार से मुक्त हुआ हूँ। स्वयं राम,कृष्ण, दशरथ, वसुदेव, शबरी, गोपियाँ,मीरा आदि सभी प्रमुख भक्त जन भेद भक्ति करते थे, जिसका मूल आधार देह में अहं बुद्धि ही एक मात्र साधन है। बिना देह भाव के भक्त अपने को दास, सखा, पिता, स्वामी आदि कोई भी शारीरिक या मानसिक भाव से भक्ति नहीं कर सकता है। तब फिर यह भेद भक्ति अपने मूल आधार अहंता को कैसे दूर कर सकेगी ? जब इन सब उपरोक्त परम भक्तों ने सद्गुरु द्वारा ज्ञान पाया और विचार रूप तप से अपने स्वरूप का निश्चय किया तब जाके सभी मुक्ति को प्राप्त हो गये । गोपियों का भगवान के साथ प्रियतम भाव–भक्ति होने पर भी उनकी मुक्ति नहीं हुई किन्तु जब उन्होंने भगवान से आत्मा का ज्ञान उपदेश ग्रहण किया तब उस दिव्य ज्ञान को पाकर वे सभी मुक्ति को प्राप्त होगई ।

शुकदेवजी परिक्षित को कहते हैं–तुम पशुओंकी तरह अपनी देह बुद्धि का परित्याग करो कि मैं मरूँगा । सदा याद रखो कि तुम यह जन्म–मरण धर्मी अनात्म शरीर नहीं हो । शरीर अनित्य एवं विनाशी है किन्तु तुम नित्य आत्मा हो। इस प्रकार तुम अपनी बुद्धि को परमात्म चिन्तन से दृढ करलो और अपने हृदय स्थित परमात्मा को मैं रूप में सदा साक्षात् करते रहो । तुम ऐसा विचार करो कि मैं सर्वाधिष्ठान कालातीत ब्रह्म हूँ । उपदेश श्रवण करके परिक्षित ने अपना अनुभव प्रकाशित किया कि आपके ज्ञान विज्ञान को श्रवण कर मेरा अज्ञान जनित मृत्यु भय मन से सर्वथा समाप्त होचुका है । यह प्रसंग भागवत के १२ स्कन्ध के ५ अध्याय में वर्णन किया गया है ।

आत्म अनुसन्धान में लगा हुआ बुद्धिमान् पुरुष सम्पुर्ण कर्मों का त्याग करदे । जब तक समस्त प्राणियों में और अपने में अखण्ड, चेतन, द्रष्टा, साक्षी, आत्मा में सोऽहम् भाव जाग्रत नहीं हुआ है तभी तक वह कर्म, उपासना,प्रतिमा पूजन, ध्यान,जप,तप, तीर्थादि का

सेवन करे किन्तु ब्रह्म जिज्ञासा होने पर उन समस्त बाह्य साधनों का त्याग करदे ।

भक्तों के सब साधन मन की क्रियाएं हैं किन्तु साक्षी भाव मन के पार की स्थिति है । तुम चाहे मन्दिर बनाओ, तीर्थ जाओ, पूजा करो, जप करो,माला करो, दान करो,अन्न क्षेत्र खोलो,गौशाला बनाओ परन्तु इन सब बाह्य क्रियाओं से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है । धर्म का सम्बन्ध उससे है जो सब के भीतर–बाहर की क्रियाओं को जान रहा है,देख रहा है जो तुम्हारे मन, बुद्धि की वृत्तियों को जान रहा है । धर्म का सम्बन्ध उससे है जो तुम्हारे अन्दर सबका साक्षी है । तो जब तुम इस सर्वसाक्षी को सब प्राणियों में और अपने को सोऽहम् भाव से जान लोगे, तभी तुम धार्मिक हो सकते हो । अतः जिससे सब जाना जाता है, अनुभव होता है, उसके विचार में डूबो की 'वही मैं हूँ' तभी तुम भव बन्धन से मुक्त हो पाओगे । यही वास्तविक धर्म है ।

अस्तु हे आत्मन् ! अब तु –

जान ! जान ! जानने वाले को तो जान ।
देख ! देख ! देखने वाले को तो देख ।

कृष्ण के मत से यही वास्तविक ज्ञान है ।

क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।१३/२ गीता
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यद तोऽन्यथा ।।१३/११ : गीता

– स्वामी निरंजन

विचार द्वारा ही मुक्ति

अनादि काल से जीव अपने ज्ञान स्वरूप को न पहचानने के कारण अनित्य देह संघात्, नाम, जाति, उपाधि को अपना स्वरूप स्वीकार कर जन्म–मरण दुःख भोग रहा है । किन्तु जब गुरु कृपा से प्रतिक्षण आत्म विचार करता है तब उसका देह से तादात्म्य टूटता है और वह अपने भूले हुए निर्विकल्प अवस्था का पुनः स्मृति प्राप्त कर उसी निष्ठा में दृढ़ हो जाता है ।

अब विचार का भेद समझे कि यह विचार की क्या साधना है ? संसार में जिसे विचार करना कहा जाता है वह सब अविचार ही समझना चाहिये । संसार में हम प्रत्येक कार्य तो विचार कर ही करते हैं, किसी से काम करते भूल हो जाती है तो उसे यही कहते हैं कि यदि तुमने यह काम विचार कर किया होता तो यह भूल न होती । इसीलिये वे असफल होने से दुःखी होते रहते हैं । कहते हैं –

बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय ।
काम बिगाड़े आपनो, जग में होत हंसाय ।।

किन्तु परमार्थ में विचार को ही मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है । जगद् गुरु शंकराचार्यजी ने भी इसी विचार साधन को महत्व दिया है न की कर्म उपासना को ।

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तुपलब्धये ।
वस्तु सिद्धि र्विचारेण नकिंचित्कर्म कोटिभि ।। विवेक चू.११

अविचार कृतोबन्धो विचारान्मोक्षो भवति,

तस्मात्सदा विचारयेत ।।२ ।। पैङ्गल उप.

जीव को देहभाव के कारण ही बन्धन है और मैं आत्मा हूँ इस विचार से मुक्ति है । अतः मुमुक्षु को सदा आत्म विचार परायण होना चाहिये ।

नोत्पद्यते बिना ज्ञानं विचारेण अन्य साधनैः ।।

११ । अपरोक्षानुभूति

उपरोक्त सभी श्रुतिवाक्य का तात्पर्य विचार करने पर बल दिया है । ऐसी सैकड़ों श्रुति शास्त्रों में मिलेगी जिनमें आत्मविचार करने का उल्लेख किया है । अब विचार का गूढ़ अर्थ समझे :

वि = उल्टा, **चार** = चलना अर्थात् उल्टा चलना । किस ओर उल्टे चलें ? उत्तर – जिस ओर से आये हो । जहाँ से यहाँ तक आये हो, पुनः वहीं लौटने के लिये उल्टे चलना होगा । लय चिन्तन प्रक्रिया द्वारा पहुँचें। जैसे आप घर की ओर पीठ कर बाजार की ओर काम से आये है तो अब घर पहुँचने हेतु विचार करना होगा कि अब हमें आगे नहीं जाना है अब घर लौट जाना है तो फिर आप अपने चलने कि दिशा उलट देते हैं एवं घर, मुकाम पर पहुँचजाते हैं ।

नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि मनो नहि ।
सदा साक्षिस्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः ।।

१० ।४ जाबाल द.उप.

इति धीर्या मुनि श्रेष्ठ सा समाधिरिहोच्यते ।।१०/५

समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति ।।१० ।१

मैं देह नहीं हूँ, न मैं पांच प्राण हूँ, न मैं दसों इन्द्रियाँ हूँ और न मैं मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप अन्तःकरण हूँ । मैं केवल स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीन शरीर, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्था, अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्दमय पंचकोष, तथा सत्त्व, रज, तम

इन तीन गुणों का केवल साक्षी मात्र हूँ । **परमात्मा व जीवात्मा के प्रति एकत्व निश्चयात्मक बुद्धि का जाग्रत होना ही समाधि है ।**

चलो आपने घरको भैया, चलो अपने घरको रे ।
जबलग अपना घर नहीं पावे, तब लग पावें डरको रे ।।

हम कहाँ से आये है ? परमात्मा से,'**अमृतस्त पुत्राः**' '**ईश्वर अशं जीव अविनाशी**' । परमात्मा की सन्तान परमात्मा का अंश जीव ''**ममैवांशो जीवलोके जीव भूतः सनातनः ।**'' १५/७ गीता

अतः जबतक जीव पुनः अपने मूल स्वरूप की ओर दृष्टि नहीं करेगा तब तक नाम, रूप माया संसार में ही भटकता रहेगा ।

जीव कहाँ आगया है इस बाजार में, परदेश में ? अब इसे स्वदेश लौटना है । परमात्मा इसकी मन्जिल अर्थात् सच्चा घर है । यह जगत् तो एक धर्मशाला है । अब इस शरीर से विचार द्वारा इसे पुनः अपने ब्रह्म स्वरूप तक पहुँचाना है तो चलो उल्टी यात्रा प्रारम्भ करें ।

शरीर कहाँ से आया ? पिता माता से । पिता माता कहाँ से लाये ? रज–वीर्ज से । रज–वीर्ज कहाँ से मिला ? अन्न से । अन्न कहाँ से मिला ? पृथ्वी से । पृथ्वी को अन्न कहाँ से मिला ? जल से । जल कहाँ से आया ? तेज से । तेज कहाँ से निकला ? वायु से (वायु यदि दीप स्थान में न रहे तो आक्सीजन के अभाव में दीपक नहीं जलेगा, अग्नि भी शान्त हो जायगी) वायु कहाँ से आयी ? आकाश से । आकाश कहाँ से उत्पन्न हुआ ? आत्मा से, परमात्मा से, चैतन्य से । आत्मा किसी से उत्पन्न नहीं हुआ, वह स्वयंभू है । वही जीव का मूल है । यही सदा विचार करना चाहिये कि मैं स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण चार शरीर, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्था, सत, रज, तम तीन गुण, अन्न मय, प्राणयम, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय वह पंच कोष, आकाश, वायु, तेज,जल, पृथ्वी, यह

अपंचीकृत, सूक्ष्म, पंचभूत, पंचमहाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्म इन्द्रिय, पंच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, अविद्या, माया, जीव, ईश्वर आदि प्रपंच कुछ भी नहीं हूँ बल्कि जिससे यह सब जाने जाते हैं, देखे जाते हैं वह साक्षी ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ । इस प्रकार का विचार ही मोक्ष का हेतु है, अन्य ज्ञान सब व्यावहारिक ही है । श्रीकृष्ण भी अर्जुन को यही बात क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ के नाम से समझा रहे हैं ।

क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।१३/२ गीता

अर्थात् क्षेत्र शरीर को विकारी तथा क्षेत्रज्ञ आत्मा को अविकारी जानना यही जीव के कल्याण का साधन है । यही मेरा अर्थात् वेद मत है । इस विचार चिन्तन को छोड़ जो भी जहाँ–तहाँ कुछ कर रहे हैं वह सत्संग के नाम पर, आत्मा के नाम पर कुसंग ही कर रहे है, जो उनके आवागमन का ही हेतु है । घर से बाहर जंगल में भटकने जैसा ही है ।

द्वे पदे बन्ध मोक्षाय निर्ममेति ममेति च ।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ।। बराह उप. २/४३

यह मेरा है इस भाव में बन्धन है और यह मेरा नहीं है इस दृढ निष्ठा से जीव मुक्त होता है ।

नाहं देहोऽहमात्मेति निश्चयो ज्ञान लक्षणम् ।

मैं देह नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ इस निश्चय करने मात्र से जीव मुक्त हो जाता है । इससे सिद्ध होता है कि अविचार से जीव बन्धन को प्राप्त होता है एवं विचार से मुक्त होता है ।

'विचार ही मार्ग है'

अविचार कृतो बन्धो विचारेण मोक्ष भवति ।
तस्मात् सदा विचारयेत । – पैङ्गलोपनिषद् २

देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि अनात्म देह संघात् में 'मैं भाव' रखने के कारण जीव को बन्धन की प्राप्ति होती है । मैं देह संघात् से भिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म आत्मा स्वरूप हूँ । इस सम्यक विचार से जीव के बन्धन की निवृत्ति होती है । अतः जीव को निरन्तर देह भाव की जगह आत्मा का ही विचार करते रहना चाहिये ।

चितस्य शुद्धि कर्म न तु वस्तुपलब्धे ।
वस्तुसिद्धि विचारेण न किन्चित् कर्म कोटिभि ।। वि. चूड़ामणि

जीव के अन्तःकरण में मल विक्षेप तथा आवरण इन तीन दोषों की निवृत्ति हेतु वेद में निष्काम भाव से कर्म तथा उपासना साधन करने को बतलाया है । जिसके फल स्वरूप जीव का जब चित्त शुद्ध हो जाता है, जब जीव के मन में मुक्ति पाने की इच्छा अर्थात् ब्रह्म जिज्ञासा जाग्रत हो जाती है तब साधक को कर्म, उपासना का फल सहित त्याग कर किसी सद्गुरु की शरण में जाना पड़ता है । तब उनसे वेदान्त तत्त्व का श्रवण, मनन, निदिध्यासन कर जीव अपने ब्रह्म स्वरूप में दृढ़ निष्ठावान् हो कल्याण को प्राप्त हो जाता है । ब्रह्म ज्ञान, आत्म ज्ञान को छोड़ कोटि कर्म, उपासना सकाम या निष्काम करने पर भी जीव मुक्त नहीं हो सकेगा । आत्मानुभूति के लिये तो केवल आत्मा का अनात्मा

से माना हुआ भ्रान्तिजन्य सम्बन्ध का त्याग करना ही एकमात्र साधन है ।

आत्मा एक अखण्ड सत्ता है, जो सबको सीधे ही 'मैं हूँ' के रूप में अनुभव हो रही है । 'मैं यह हूँ' या 'मैं वह हूँ' – इस प्रकार के भावों से सर्वथा रहित है । यह सबको अपने भीतर समाविष्ट करने वाली चेतना है, जो सभी विद्यमान पदार्थों का मूल उद्गम स्थान सत्य रूप है ।

सत्य आत्मा का अनुभव तभी होता है जब मिथ्या मैं से तादात्म्यता हटाकर जाना जाता है। आत्मा अखण्ड एवं अद्वय होने से उसमें द्रष्टा–दृश्य का भेद नहीं है । क्योंकि द्रष्टा की सत्यता तो दृश्यपर ही स्थित है । जब दृश्य मिथ्या होता है तो द्रष्टा भी मिथ्या है । द्रष्टा का जन्म दृश्य से ही होता है। दृश्य की मृत्यु के साथ द्रष्टा उपाधि की भी मृत्यु हो जाती है । आत्मानुभव की स्थिति में कोई जानने वाला नहीं है तथा आत्मा से भिन्न कोई जानने योग्य ज्ञेय वस्तु नहीं है । सच्चा ज्ञान अनुभव का विषय नहीं है, न वह ज्ञाता से भिन्न कोई अवस्था विशेष है । वह अद्वय सत्य सभी को ''मैं हूँ'' रूप में अनुभव गोचर है ।

अशरीरी सत्यात्मा समस्त नाम, रूप मिथ्या पदार्थों का आधार है। जो जगत के रहने तथा न रहने का भी प्रकाशक है और यही तुम्हारा, हमारा, सबका सच्चा आत्म स्वरूप है ।

आत्मा नित्य चेतन तत्त्व है । सबका अपना स्वरूप होने से उसे पाने के लिये किसी प्रकार साधन करने की जरूरत नहीं है । आपतो केवल अनात्म पदार्थ विषयक चेतना का त्याग करदे तो फिर शुद्ध चैतन्य, मैं आत्मा ही शेष रह जाता है और वही आत्मा तुम स्वयं हो ।

देखा जाता है प्रायः साधक आत्मा को किसी नवीन पदार्थ की तरह देखना या प्राप्त करना चाहते हैं । वे उसे तेजोमय प्रकाश या कोई

रूप विशेष में देखना चाहते हैं। परन्तु ऐसा कैसे हो सकता है ? वह न प्रकाश है, न अन्धकार है । वह जैसा है वैसा है । उसके लिये इतना ही कहा जा सकता है कि ''मैं हूँ वह मैं हूँ'' 'I am that I am' आत्मा हमेशा विद्यमान है । यह प्रत्येक व्यक्ति 'मैं' 'मैं' के रूप में प्रतिक्षण जानता रहता है । कोई भी व्यक्ति 'मैं नहीं हूँ' – ऐसा कभी नहीं कहता है । किसी भी देश, काल, वस्तु के बारे में सन्देह हो सकता है कि वह है या नहीं । जैसे राम, कृष्ण, विष्णु, शंकर, गणेश, हनुमान थे या नहीं किन्तु कोई भी अपने होने को इन्कार नहीं कर सकता । मैं आत्मा सनातन है । **'ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः'**। १५/६ गीता

आत्मा में द्वैत नहीं है उसमें द्रष्टा–दृश्य का भेद नहीं है । जहाँ द्वैत नहीं वहाँ कौन किसका स्मरण करे, कौन किसका ध्यान करे ? आत्मा को पाना नहीं है, जानना नहीं है, देखना नहीं है बल्कि आत्मा होकर रहना है । आप बस और कुछ न बने, दया करके केवल आत्मा ही बने रहें । जिसे हम आत्म साक्षात्कार कहते हैं, उसमें कुछ नया प्राप्त नहीं करना है । यह कोई अनजान, दूरस्थ, ज्ञेय या ध्येय रूप भिन्न पदार्थ नहीं है । हमें केवल वही होकर रहना है जो हम हमेशा से हैं । मुमुक्षु को केवल इतना ही करना है कि मिथ्या देह सम्बन्ध को सत्य मानना छोड़ दे । तब हम आत्मा को आत्मा के रूप में, मैं के रूप में, 'सोऽहम्' रूप में जानेंगे । दूसरे शब्दों में आत्मा बने रहें । जब सम्यक् आत्म बोध किसी सद्गुरु की कृपा से हो जावेगा तब आप अपने आत्मा की प्राप्ति के साधन पर हँसेंगे कि कैसी मेरी नासमझी थी ? जो नित्य आत्मा मैं हूँ उसे ही अन्य मान खोजने में लगा कष्ट उठा रहा था । यह द्रष्टा–दृश्य से पर है । वहाँ देखने वाला व दिखने वाला कोई अन्य पदार्थ ही नहीं है। जो इस समय देखने, सुनने, जानने वाला मिथ्या मैं है वह जीव भी सुषुप्ति अवस्था में आनन्दघन मुझ सत्यात्मा में लीन हो जाता है । जैसे नदी सागर में एकत्व को प्राप्त हो जाती है । तब केवल शुद्ध 'मैं' 'आत्मा' ही शेष रहता है ।

यदि हम आत्मा के जानने की बात को स्वीकार करें, तो फिर दो आत्मा का होना अनिवार्य हो जावेगा । एक जानने वाला आत्मा तथा दूसरा ज्ञेय आत्मा और जानने की प्रक्रिया को भी स्वीकार करना पड़ेगा, जिसे हम आत्मसाक्षात्कार कहते हैं । यदि किसी ने आत्म साक्षात्कार किया है, तो वह केवल वही रहता है जो हमेशा से था । जो हमेशा से एक अखण्ड सत्य है, उसे दृश्य कैसे बनाया जा सकता है ? उसमें किसी अन्य वस्तु का समावेश अस्तित्व नहीं है । इसलिये आत्मा केवल एक ही है ।

साक्षात्कार की बात करना ही भ्रान्ति है । किसका साक्षात्कार करना है ? जो सत्य है वह हमेशा वैसा ही रहता है । हम किसी नाशवान् नई चीज को ही साधन कर उत्पन्न करते हैं ।

मुक्ति हमारा स्वभाव है । हम वही हैं । मुक्ति की इच्छा यह सिद्ध करती है कि बन्धन से मुक्त रहना हमारा सहज सिद्ध स्वभाव है । उसे नये सिरे से प्राप्त नहीं करना है । करना है तो केवल यही कि 'हम बद्ध है,' इस गलत धारणा का त्याग करना है । जब हम देह भाव का त्याग करदेंगे तब किसी प्रकार की इच्छा नहीं रहेगी । जब तक कोई मुक्ति की इच्छा करता है, तो समझना चाहिये कि वह बद्ध है ।

जब आप कहते है कि मैं जाग्रत अवस्था के कामों से उपराम होकर सो गया, फिर मैंने स्वप्न देखा, फिर गहरी नींद में चला गया व अब मैं जाग गया हूँ । तो आपको यह स्वीकार करना ही होगा कि आप इन तीनों अवस्थाओं में मौजूद थे । इससे सिद्ध होता है कि आप हमेशा रहते हैं । अवस्थाएँ बदल जाती है परन्तु आप तीनों अवस्थाओं में द्रष्टा साक्षी बने रहते है एवं अवस्थाओं के परिवर्तन को जानते रहते हैं ।

चलचित्र में दृश्य नाना प्रकार के प्रतीत होते हैं परन्तु परदे को न तो चलचित्र के भयंकर बाढ का पानी गीला कर पाता है, न नगर की

भयंकर अग्नि जला पाती है, न चलचित्र की भयंकर लड़ाई के बहते रक्त उस परदे को लाल करपाता है । परदे पर कुछ चिपकता, छूता नहीं । इसी तरह तीन अवस्थाओं में आप असंग आत्मा ही बने रहते हैं । परदे पर जो भी होता है, परदा उससे अलिप्त, असंग, अछूता ही बना रहता है । इसी तरह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा मुर्छा, ध्यान, समाधि में जो भी घटता है, उसका आप पर कोई असर नहीं होता है । आप सदा आत्मा ही बने रहते हैं ।

जैसे नाट्यगृह का दीपक वहाँ राजा, मन्त्री, प्रजा और नर्तकी सेवक सभी को समान रूप से प्रकाशित करता रहता है । प्रारम्भ से नाटक की समाप्ति तक समान रूप से जलता रहता है । इसी प्रकार आत्मा इस देहाभिमानी जीव के अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रियों को समान रूप से प्रकाशित करता रहता है । निद्रा एवं मुर्छा, बेहोशी अवस्था में मिथ्या 'मैं', मिथ्या 'अहं' का अनुभव नहीं होता, तब भी शुद्ध आत्मा, सत्य आत्मा उनके अभाव को प्रकाशित करता हुआ अपने आप प्रकाशित होता रहता है, साक्षी बना रहता है ।

वस्तुतः आत्मा को साक्षी कहना भी पूर्ण सत्य नहीं है । यह साक्षी कहना भी मन का विचार है । साक्षी होना साक्ष्य पदार्थों की अपेक्षा रखता है । साक्षी एवं साक्ष्य पदार्थ दोनों मन की कल्पना है । अहं रूप, मैं रूप शुद्ध सत्ता तीनों अवस्था में बनी रहती है, इसलिये सत्य है । तीनों अवस्थाएँ सत्य नहीं है । मन जैसी कोई वस्तु है ही नहीं । इस प्रकार मन का अन्वेशण करने पर मन अपने मूल उद्गम स्थान आत्मा में लीन हो जाता है और तब न द्रष्टा है न दृश्य, न साक्षी है और न साक्ष्य, वहाँ केवल हमारी सच्ची अवस्था तुरीय है । जो तीनों अवस्था में एक जैसी बनी तो रहती है किन्तु तीनों अवस्थाओं के बारे में कुछ नहीं जानती क्योंकि आत्मा तुरीय में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी नहीं है । तुरीय या तुरीयातीत हमारा सहज स्वरूप है ।

मन व आत्मा में ऐसा ही भेद है जैसे तरंग व जल का । बहिर्मूख मन अहंकार व जगत बनकर रहता है एवं अन्तर्मुख मन आत्मा है । जैसे अनेक नाम–रूप वाले अलंकार स्वर्ण मात्र ही है । इसी प्रकार एक सत्य मन, बुद्धि, चित्त अहंकार आदि नामों से कहा जाता है किन्तु सत्यात्मा तो एक ही है । जैसे समुद्र में नाना लहरे उठती रहती है वे सब एक मात्र जल ही है । इसी प्रकार आत्मा में नाना मनोवृत्तियाँ उठती रहती है वे सब एक मात्र ज्ञान का ही लहरे हैं । आत्मा से भिन्न नहीं है ।

असत् से भिन्न होने से आत्मा को सत, जड़ से भिन्न होने को चित एवं दुःख से भिन्न होने से उसे आनन्द कहा जाता है । इस प्रकार आत्मा सच्चिदानन्द कहा जाता है । आप इसे ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, चैतन्य, हृदय, अहं, मैं, अथवा आत्मा – किसी भी नाम से सम्बोधित करे, पुकारे किन्तु इन सबका एक ही अर्थ है । जैसे जल, पानी, तोय, उदक, सलील, अम्बू, नीर की तरह ।

आत्मा नित्य एवं सनातन हमारा स्वरूप है । यदि आप अपने द्वारा अपनाये हुए गलत धारणाएँ त्याग दे तो आपको आत्मा का सीधा स्पष्ट अनुभव होगा । क्योंकि ये काल्पनिक देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि में अहं बुद्धि ही सच्चे आत्मानुभव होने में आवरण है ।

साक्षात्कार कोई नूतन वस्तु प्राप्त करने जैसी नहीं है । वह सदा से विद्यमान ही है । आवश्यकता है केवल इस बातकी कि ''मैंने साक्षात्कार नहीं किया'' इस भ्रान्त धारणा को मिटादेने की । आत्मा न हो ऐसा एक क्षण भी नहीं है । जब तक अपने में आत्म भाव जाग्रत न हो तब तक ऐसे भ्रान्तधारणा से मुक्त होने के लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये । आप इस क्षण उस साक्षात्कार अवस्था में है जिसे आप साधन द्वारा प्राप्त करना चाहते है ।

जो नूतन वस्तु साधन द्वारा प्राप्त की जावेगी वह एक दिन अवश्य ही नष्ट हो जावेगी, फिर ऐसी नाशवान वस्तु को प्राप्त करने से

लाभ भी क्या ? निश्चय कीजिये आप सनातन आत्मा हैं । सारे प्रयत्न केवल मिथ्याज्ञान रूप अज्ञान अर्थात् 'मैं देह हूँ' इसे दूर करने के लिये हैं । आत्मा को देह मनादि मान लेना महा अज्ञान है । यह गलत तादात्म्य को मन से मिटाना ही ज्ञान है । ''क्योंकि मैं साक्षात्कार कर सकता हूँ'' और यह विचार कि ''मैंने साक्षात्कार नहीं किया है'' ये दो बातों से, अवरोधों से, अपराधों से बचना आवश्यक है । आत्मा अभी यहाँ है । कोई भी अपने आपको न होने को स्वीकार नहीं करता है । सब लोग ''मैं हूँ'' ऐसा जानते हैं । चैतन्य निश्चित रूप से सदैव हमारा स्वरूप ही है । साक्षात्कार कोई नई उपलब्धि नहीं है, सिर्फ आवरण का नाश है । कोई भी जीव किसी शुभाशुभ कर्मों के कारण आत्मा से एक क्षण को भी दूर नहीं हो सकता । जो कहता है कि मुझे आत्मा का भान नहीं है । इस कथन में आपका होना जरूरी है । इस अभान अवस्था एवं भान अवस्था से जो पृथक् है, वही सच्चा आत्मा है ।

ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने योग्य वस्तु नहीं है कि जिसे प्राप्त कर जीव सुखी हो जायगा । साधक को केवल अपनी गलत धारणाओं का त्याग करना आवश्यक है । जिस आत्मा को आप ढूंढ रहे हैं वास्तव में वह स्वयं आप ही है । आपका देह में तादात्म्य होने के कारण आपका काल्पनिक अज्ञान आपको उस कभी न खोये हुए दसवें पुरुष की तरह अथवा गले के हार की खोज के समान अनावश्यक परेशान कर रहा है । आप अनन्त शुद्ध सत्तारूप आत्मा है । आप आत्मा से भिन्न कुछ हुए ही नहीं ।

छोटा बच्चा भी कहता है – 'मैं हूँ', 'मैं करता हूँ', 'मैं खाता हूँ', 'मैं जाता हूँ' इस प्रकार सभी लोग 'मैं' की उपस्थिति का सर्वदा प्रत्येक क्रिया में बोध करते रहते हैं । जब यह ''मैं'' होता है तभी आप ''मैं शरीर हूँ'', ''मैं यह हूँ'', ''मैं वह हूँ'' ऐसा मिथ्या अभिमान कर सकते हैं । जो नित्य, स्वयं प्रकाश, सर्व प्रकाशक है, उसे सूर्य के

समान निजात्मा को जानने के लिये क्या किसी की आवश्यकता होगी ? नहीं । वहाँ न सूर्य, चन्द्र, विद्युत् भी पहुँच पाते हैं और न यह मन, बुद्धि ही पहुँच पाते है ।

स्वयं आत्मा होते हुए भी आत्मा को कैसे प्राप्त किया जाय ? आत्मा तक कैसे पहुँचा जाय ? ऐसा आप पूछते हैं । यह बात तो ऐसी मूर्खता पूर्ण है जैसे मछली जल में रहते हुए जल की खोज करें या घर में बैठे हुए कोई घर पहुँचने का मार्ग पूछें । आत्मा तक न पहुँचना है, न आत्मा को प्राप्त करना है । आप आत्मा है । आपका अस्तित्व सदा रहता है । आपको जो करना है वह केवल इतना ही है कि 'आप शरीर है', इस अहंकार को छोड़े एवं समस्त बाह्य पदार्थों से ममता का त्याग करना है । आप वस्तुतः शुद्धात्मा हैं फिर भी भूल से अहंकार के साथ तादात्म्य करते हैं । यदि आप स्वयं को आत्मा जानते हैं तो फिर सब कुछ आपको ब्रह्म ही अनुभव गोचर होगा । यदि आप स्वयं को शरीर मानते हैं, तो फिर आपको सब संसार दिखाई देगा । अतः दृष्टि को ज्ञान मयी बनाकर जगत् को ब्रह्म रूप देखें ।

दृष्टि ज्ञानमयी कृत्वा पश्येत ब्रह्ममयं जगत ।
सादृष्टि परमोदारा न नासाग्रवलोकिनी ।।

– अपरोक्ष अनुभूति, शंकराचार्य

आत्मा को जानने का अर्थ आत्मा होकर रहना है । होना ही सत्ता है । आत्मा होना भी क्या ? हम हैं ही आत्मा । कोई भी व्यक्ति अपनी न दिखने वाली आँखों के अस्तित्व की तरह, न दिखने वाली आत्मा के होने का इन्कार नहीं कर सकता । जैसे आप अपनी आँखों को दर्पण में वस्तु की तरह देख लेते हैं । इसी तरह आप अपनी आत्मा को भी वस्तु की तरह देखना चाहते हैं । अर्जुन भी इसी प्रकार की प्रार्थना भगवान श्रीकृष्ण से करता है ।

हे प्रभो ! यदि मेरे द्वारा आपक यह रूप देखा जाना सम्भव है – ऐसा आप मानते हैं तो है योगेश्वर ! आप अपने अविनाशी, निर्गुण निराकार स्वरूप का दर्शन कराने की कृपा करें । **गीता ११–४**

गीता अध्याय ११ – ८ तब भगवान उसे कहते हैं कि उस अविनाशी अविकारी दिव्यात्मा का इन प्राकृत विकारी नेत्रों द्वारा कभी भी नहीं देख सकता । उसके लिये तो तुझे दिव्य चक्षु, ज्ञान चक्षु, विमल नेत्र, विचार नेत्र, अन्वय व्यतिरेक, लय चिन्तन प्रक्रिया सीखनी होगी, तभी तू इस निजात्मा का सर्वत्र अनुभव कर सकेगा।

व्यक्ति अनात्म देह के साथ इतना ओत–प्रोत भाव से घुल मिल गया है कि जिससे वह अपने सच्चे आत्म स्वरूप का ज्ञान भूल ही गया है । आत्मा को देखने की आप इच्छा तो करते है तो विचारे कि आत्मा जड़ है या चेतन ? चेतन है तो फिर आप जड़ सिद्ध हुए । क्योंकि जगत में दो ही तत्त्व है । एक जड़ दूसरा चेतन, एक दृश्य दूसरा द्रष्टा, एक शिव दूसरा शव, एक क्षेत्र दूसरा क्षेत्रज्ञ, एक आत्मा दूसरा अनात्मा । तब अनात्मा, जड़, शव, क्षेत्र, दृश्य वर्ग कैसे शिव, आत्मा, चेतन का अनुभव कर सकेगा ? आत्मा को कौन जानेगा, देखेगा, अनुभव करेगा ? क्या अचेतन, जड़, शव, क्षेत्र, परप्रकाश, दृश्य उसे देख सकेगा ? आप हमेशा अपने ''मैं'' के बारे में बोलते हैं कि मैं खाता, मैं पीता, मैं सोता, मैं जाता और फिर पूछते है कि मैं आत्मा को कैसे जानू ? आत्मा नित्य है । आपके अतिरिक्त यहाँ अन्य कुछ भी नहीं है । जैसे स्वप्न द्रष्टा के अतिरिक्त स्वप्न संसार कुछ भी अन्य नहीं है । इसी प्रकार यह जाग्रत दृश्य जगत्, द्रष्टा चेतन आत्मा से भिन्न नहीं है ।

हमारा वास्तविक स्वभाव मुक्ति है । लेकिन हम कल्पना करते हैं कि हम बद्ध हैं और मुक्त होने के लिये अनेकों प्रकार के कठिन साधन कर कष्ट उठाते रहते हैं । जब कि हम सर्वदा मुक्त ही रहते हैं । भीड़ में

रहकर भी सदा एकान्त में ही है । विचारों की भीड़ में भी हम मौन ही रहते हैं । आश्चर्य है कि जो हम सर्वदा से है, उसे ही प्राप्त करने के लिये हमसे इन नामधारी गुरुओं, बाबाओं, महात्माओं ने कितना दुःख दिया । जप, माला, परिक्रमा कराई, घर संसार छूड़वाया, कठोर तपस्या कराई, जैसे घर में सोया पुरुष स्वप्न में नदी, पर्वत और बाघ, भालू, सिंह, सर्प के भयानक जगंलों से गुजर कर हारा–थका, भूखा–प्यासा रह ट्रेन, मोटर, रिक्शा कर घर लौटता है, उसी क्षण जब उसकी नींद खुल जाती है, तब वह देखता है कि वह अपनी विस्तर व कमरे से एक पाँव भी दूर नहीं गया था । इसी प्रकार जीव जन्म–मरण का दुःख भोगता हुआ किसी गुरु की शरण में जाकर ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति का अनुभव करता है, जबकि वह कभी बद्ध था नहीं कि मुक्त हुआ नहीं, जीव सदा मुक्त ही था एवं मुक्त ही है ।

मन आत्मा का प्रतिविम्ब है । केवल इस प्रतिविम्ब को देखकर मोहित हुआ अज्ञानी स्वयं को सीमित जीव मानता है । जब भी अपने में सीमित जीव पने का भाव जाग्रत हो उसे 'मैं व्यापक ब्रह्म हूँ' इस शुद्ध भाव द्वारा त्याग करदें । यदि वह प्राप्त करने योग्य पदार्थ है तो फिर वह नित्य नहीं हो सकेगा ।

'यत साध्यं तत् अनित्यम्'

क्या ऐसा कोई जीवित प्राणी है जिसे आत्मा साक्षात् न हो ? मनुष्य तो दूर रहा कोई पशु भी नहीं है जो अपनी सत्ता को, अपने होने को इन्कार कर सकता है । कुत्ते को मारते हैं तो वह भी उठ भागता है । साक्षात्कार पहले से ही है । जो अब तक नहीं था उसे अब प्राप्त किया जाय या साक्षात् किया जाय, तो वह अनित्य वस्तु ही होगी । साक्षात्कार में दो की सूचना मिलती है एक साक्षात् करने वाला एवं दूसरा जिसका साक्षात्कार किया जाय वह, इस प्रकार दो सत्ता सिद्ध होती है। किन्तु यहाँ अखण्ड आत्मा के अतिरिक्त किञ्चित् भी अन्य नहीं है ।

आप अहंकार, मन, बुद्धि तथा उनकी इन्द्रियों द्वारा होने वाली चेष्टाओं की तरफ ध्यान न दीजिये, केवल उन सबके पीछे रहने वाले चैतन्य आत्म स्वरूप को मैं रूप में, अहं रूप में जानिये । अहंकार अहं विचार है । सच्चा अहं आत्मा है । सच्चे अहं आत्मा में रहकर मिथ्या अहं मन के बारे में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है ।

हम सत्य से, आत्मा से, आनन्द से दूर नहीं थे, नहीं है और दूर नहीं हो सकेंगे । इन समाज के पंडित, पुरोहित, गुरुओं ने अपने स्वार्थ सिद्धि हेतु हमें सत्य के नाम पर बहुत लूटा, ठगा एवं सताया है । हम निष्पापी, नित्यशुद्ध परमात्मा स्वरूप ही थे किन्तु हमें सिखाया कि हम पापी जीव हैं । हम परमात्मा से भिन्न है । हम त्याग एवं कठिन तपस्या साधन करके परमात्मा को प्राप्त करेंगे । जैसे कठिन चढ़ाई पर चढने का परिश्रम कर थका हुआ व्यक्ति वहाँ पहुँचता है और शान्ति का अनुभव करता है । उसे यह भ्रम होता कि इतनी चढ़ाई करके उसने शान्ति को प्राप्त किया है । किन्तु शान्ति वही है, जो पर्वत चढ़ाई के पूर्व क्षण में उसे प्राप्त थी । फिर क्यों कल्पना से भेद खड़ा करे और फिर उसे साधन कर नष्ट करने का परिश्रम करे ? यह अज्ञानी मन का ही खेल है । जो इस अज्ञानी मन का साक्षी है, वह आप है । जो मन का साक्षी है वह परमात्मा है । **'को देवः ? यो मनः साक्षी'** –'वेद' ।

आप विशेष स्थानों में या काल विशेष में आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते । आनन्द नित्य सर्वदा सर्वत्र होना चाहिये । जिससे उसकी उपयोगिता बनी रहे । आपकी सत्ता नित्य है । आपके अलावा नित्य आनन्द कभी नहीं हो सकता । आप आनन्द स्वरूप आत्मा से कभी भी पृथक् नहीं थे न हो सकेंगे । बस आप आत्मा बने रहे, अपने को देह, मन, बुद्धि से न मिलावे । आप अपने होने में कभी न तो सन्देह करते हैं और न कभी आप अन्धकार में भी अपने होने के सम्बन्ध के किसी से पुछते हैं कि मैं देख नहीं पा रहा हूँ, कि मैं हूँ या नहीं ।

यदि आपका अस्तित्व न हो तो आप न कुछ सोच सकते, न देख सकते, न बोल सकते, न चल सकते, न खा–पी सकते हैं। अतः समस्त क्रियाएँ जो हो रही है यह आपको याने अस्तित्व को स्वीकार करने के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है । यह अस्तित्व सत वस्तु–आत्मा है। समस्त क्रियाओं के होने के पहले ही साक्षात है । इसलिये साक्षात्कार के लिये किया गया आपका परिश्रम केवल आपकी भूल है क्योंकि आपने अपनी आत्मा को है रूप में साक्षात्कार नहीं किया है । साक्षात्कार नया नहीं होता । आत्मा सदा अनावृत है । क्या कोई मूर्ख भी अपने होने का इन्कार या अपने होने में सन्देह कर कह सकता है कि मैं हूँ या नहीं, इसका मुझे पता नहीं ? कभी नहीं । साक्षात्कार को अनित्य समझना महान भूल है । वह तो सच्ची शाश्वत अवस्था है, जो कभी बदल नहीं सकती या नष्ट नहीं हो सकती ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारूतः ।।

गीता २/२३

आप अखण्ड सत्ता होने से देश, काल एवं वस्तु नाम–रूप से अतीत हैं । देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, प्रकृति आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकती । आत्मा देश, काल, वस्तु व्यक्ति, अवस्था, गुण के अभाव में भी उन सबका प्रकाशक है ।

गाँव की कहावत है **काँख में छोरा गाँव में ढिंढोरा** । **जल बिच मीन प्यासी, 'कस्तूरी कुण्डल बसे', 'ईश्वरः सर्वभूतानाम् हृदेशऽर्जुन तिष्ठति', 'भ्रामयन्सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया'** गीता : १८/६१

गले का हार गले में हो एवं खो जाने का भ्रम हो जावे एवं लोगों से पूछती फिरे कि मेरा हार खोगया है, क्या आपने देखा है, उठाया है ? लोगों ने कहा हाँ । महिला ने पूछा तो बतावे वह कहाँ देखा है ? व्यक्तिने कहा तेरे गले में । तब महिला प्रसन्न हुई । गले में हाथ लगाकर

देखा व कहा आपकी कृपा से मिलगया। ऐसा ही हाल हम परमात्मा को खोजने वालों का है । हम सोचते हैं कि कभी न कभी हम साधन कर, तप कर, योग कर खोज ही लेंगे, साक्षात्कार कर ही लेंगे । जबकि हम आत्मा ही है, आत्मा के अलावा कुछ नहीं है फिर भी नित्य प्राप्त में अप्राप्ति का भ्रम हो गया । इस प्रकार प्राप्त पदार्थ की प्राप्ति का दूसरा भ्रम खड़ा करलिया जाता है ।

पाया कहे जो बावरा खोया कहे सो क्रूर ।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों का त्यों भरपूर ।।

निरंजन भूखा कोई नहीं, सबके पल्ले लाल ।
गांठ खोले देखे नहीं, याते भयो कंगाल ।।

(गांठ=जड़-चेतन की ग्रन्थि)

उसी में रहकर उसी की तलाश यह अज्ञान का परिचय है । गुरु आपको कोई नई नित्य वस्तु नहीं देगा, जो आपके पास प्रथम से न हो । यदि जो पहले से नहीं थी ऐसी वस्तु आपको किसी व्यक्ति के द्वारा मिली है, तो वह अनित्य ही होगी । जैसी वह प्राप्त हुई है, उसी तरह एक दिन वह नष्ट भी जावेगी ।

हमने साक्षात्कार नहीं किया है, इस विचार से ही मुक्त होना है । यह असाक्षात्कार का भ्रम ही छोड़ना है । हमेशा आत्मा साक्षात् ही हैं। कुछ करने की जरूरत नहीं है । केवल इस सत्य का अनुभव किसी सद्गुरु की कृपा से करना है ।

जिसने अपने अस्तित्व को परमसत्य को पा लिया है, जान लिया है, वह ज्ञानी फिर देखता है कि सभी का अस्तित्व वही एक आत्मा है । वस्तुतः वह एक सत्य सब जीवों की मूल आत्मा है तथा सब अनित्य नाम, रूप वस्तु का अन्तिम अधिष्ठान रूप शाश्वत एवं अपरिवर्तनशील तत्त्व है, जैसे स्वर्ण से निर्मित नाना, नाम, रूप अलंकार एकमात्र स्वर्ण ही है । नाम, रूप अलंकार तो कल्पित व्यवहारिक सत्ता

है। ज्ञानी जगत को देखता है, तो सम्पूर्ण दृश्य के आश्रय रूप आत्मा को ही, अपने को ही देखता है । आत्मा की अवगणना करके ही अज्ञानी जगत् को सत्य देखता है । यह ऐसा भ्रम है जैसे कोई मूर्ख चलचित्र के आधार रूप परदे की अवगणना करके चित्रों को निरपेक्ष सत्य मानता हो । यदि मनुष्य जानले कि परदे के सिवा वे चित्र कुछ नहीं है, वैसे ही चैतन्य के सिवा दृश्य कुछ भी नहीं है । ज्ञानी समझता है कि आत्मा के सिवा द्रष्टा व दृश्य, परदा के सिवा भक्त व भगवान के चित्र कुछ भी सत्य नहीं है । इसलिये वह मोह में वश होकर किसी दृश्य में सत्य बुद्धि नहीं करता है । दृश्य के रूप में आत्मा व्यक्त रूप में एवं दृश्य के अभाव में तथा सुषुप्ति में, आत्मा अव्यक्त रूप में रहता है ।

जो उस सत्य के साथ एक रूप हो गया है, उसके लिये न तो मन है, न ही उसकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाएँ हैं और न उसकी अन्तर्मुख व बहिर्मुखता है । उसकी नित्य जाग्रत अवस्था है क्योंकि वह ज्ञानी शाश्वत आत्मा के प्रति सदा जाग्रत है ।

ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों में देहात्म बुद्धि और संवेदना समान रूप से होती है । फर्क केवल इतना ही है कि अज्ञानी केवल शरीर को मैं रूप जानता है । जबकि ज्ञानी जानता है कि यह सब कुछ आत्म रूप है अर्थात् यह सब ब्रह्म है । यदि देह में पीड़ा होती है तो उसे भी आत्मा का भाग मानता है, क्योंकि आत्मा पूर्ण है । इसलिये वह जन्म–मरण को भी आत्मा से भिन्न नहीं देखता है । ज्ञानी कर्तव्य कर्म के साथ तादात्म्य किये बिना ही कर्म करता है । अज्ञानी कर्ता न होने पर भी देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि की क्रियाओं का अपने को कर्ता मानता है । वह ज्ञानी को भी अपनी तरह कर्ता मानता है । किन्तु ज्ञानी सत्य जानता है कि कर्म प्रकृति द्वारा शरीर को निमित्त बना होते रहते हैं । मैं कुछ भी नहीं करता हूँ । ज्ञानी की अवस्था का निर्णय अज्ञानी नहीं कर सकता ।

जैसे रेडिओ गाता बोलता है पर उसे खोलकर देखें तो उसमें कोई आदमी नहीं होता । इसी प्रकार ज्ञानी सबके साथ हँसता, रोता, गाता, खेलता है । सबके साथ ताल मिलादेता है । उसका क्या नुकसान है ? उसकी स्थिति शुद्ध दर्पण जैसी कोरी, खाली असंग ही बनी रहती है । दर्पण बिम्ब को ठिक वैसा ही प्रतिविम्बित करता है जैसा वह है, तब भी दर्पण उस प्रतिविम्ब में लिप्त नहीं होता है । वैसे ही ज्ञानी सबके साथ मिलकर सब कर्म करके भी लिप्त नहीं होता है । रेडियों में कोई कर्ता नहीं होता है । इसी तरह ज्ञानी से सब व्यवहारिक क्रिया होकर भी वह कर्ता नहीं होता है । किसी भी क्रिया का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है ।

बालक व ज्ञानी एक दृष्टि से समान है । घटनाओं में बालक का रस तभी तक रहता है जब तक वह खेल खेलते रहते हैं । समाप्त होने के बाद उस खेल का, घटना का विचार नहीं करते, वे मानसिक रूप से अछूते ही रहते हैं । ज्ञानी के विषय में भी यह बात होती है; वह भी समस्त घटनाओं से गुजर कर अछूता, असंग ही रहता है ।

''मैं हूँ'' यह सभी का नित्य एवं स्वयं सिद्ध अनुभव है । 'मैं हूँ' के सिवा और कुछ भी इतना प्रत्यक्ष और सत्य नहीं है । इन्द्रियों के माध्यम से होने वाले अनुभव को लोग प्रत्यक्ष मानते हैं, लेकिन वह प्रत्यक्ष से बहुत दूर है । पदार्थ के पीछे इन्द्रियाँ है, इन्द्रियों के पीछे मन है । मन के पीछे बुद्धि है, बुद्धि के पीछे जीव है, जीव अहंकार के पीछे शुद्ध आत्म सत्ता 'मैं' है। इस प्रकार केवल मैं ही साक्षात् सत्य है । इस प्रकार आत्मानुसन्धान करके ''मैं हूँ'' की शुद्ध अवस्था में रहना मुमुक्षु का कर्तव्य है । 'मैं हूँ' यह परम सत्य है किन्तु स्वर्ग–नरक, देवी–देवता है या नहीं यह सन्देहजनक हो सकता है । किन्तु मैं हूँ इसमें कोई सन्देह नहीं है । मैं को यह या वह मानना असत्य है । ''मैं हूँ'' यह साक्षात् सत्य अर्थात् आत्मा का दूसरा नाम है ।

सच्चा 'मैं' कभी भी मैं करता हूँ, मैं जाता हूँ, मैं भूखा हूँ, मैं दुःखी हूँ, मुझे बहुत आनन्द आ रहा है, मैं सोचता हूँ – ऐसी मिथ्या कल्पना नहीं करता है। लेकिन जो मिथ्या''मैं'' इन सब कल्पनाओं को करता है, वह मन की रचना है । अतः उसे आत्मा का बुद्धि में आया हुआ प्रतिबिम्ब मानना चाहिये, वह शुद्धात्मा नहीं है ।

व्यक्ति मन से अलग नहीं है। मन अहं विचार से अलग नहीं है । अतः सच्चे 'मैं' रूप आत्मा का ज्ञान हो जाने पर उससे भिन्न व्यक्तित्व का भाव यदि अदृश्य हो जावे तो उसका कार्य रूप मन तथा अहं विचार भी अदृश्य हो जाते है, तब जो है वह सत्यात्मा है ।

इस मूलभूत 'अहं' के प्रति निरन्तर ध्यान जारी रखा जाय, तो व्यक्ति का मिथ्या 'मैं' अदृश्य हो जायगा और उसके स्थान पर आत्मा का सीधा अनुभव होने लगेगा । इस 'मैं' या 'मैं हूँ' के प्रति सतत आन्तरिक सभानता बनाये रखना ही आत्म अनुसन्धान या भक्ति कहलाती है। अपने आपको जानने के अलावा भक्ति और कुछ भी नहीं है ।

अहं विचार को उसके जन्म स्थान आत्मा में लीन कर दीजिये या अहं विचार कहाँ से प्रकट होता है, इसकी तलाश कर वहीं ठहर जाइये ।

पूजा, ध्यान में अहं विचार नष्ट नहीं होता बल्कि पुष्ट होता है कि मैं पूजक ध्यानी हूँ एवं अमुक इष्ट का पूजन या ध्यान करता हूँ । इस प्रकार की साधन पद्धतियाँ साधक के मनको क्षणिक शान्तकर आनन्द प्रदान कर सकती है, लेकिन कभी भी ऐसे साधकों को, भक्तों को आत्म साक्षात्कार नहीं हो सकेगा कि 'मैं ब्रह्म हूँ' । मेरे अतिरिक्त अन्य किंचित् भी नहीं है, ऐसा वे भेददर्शी साधक कभी भी नहीं सोच सकते ।

ध्यान के लिये ध्येय की आवश्यकता होती है, लेकिन विचार में ध्येय रहित ध्याता होता है । ध्यान व विचार में यह भेद होता है ।

आत्मा आप पहले से ही है किन्तु देह विचार के कारण विचारों के परदे से आत्मा छिपा रहता है । हमारे समस्त प्रयत्न इस अनात्म विचार को हटाने के लिये ही होना चाहिये ।

किसी भी ध्यान के करने वाले साधक को यह विचार जाग्रत करना चाहिये कि ध्यान करनेवाला मैं आत्मा हूँ या अनात्मा ? यदि तुम आत्मा हो तो अनात्मा का, अनित्य का, नाशवान का, परिच्छिन्न का ध्यान करने का क्या लाभ ? आत्मा, सत्य तो आप स्वयं है फिर मिथ्या का ध्यान क्यों कर कष्ट भोगते हो ? उस ध्यान कर्ता को आत्मा की तलाश करने के लिये मैं की तलाश को ही कहना चाहिये । ***परमात्मा का अनुभव करने केलिये विचार अन्तिम भूमिका है ।***

विचार परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिये प्रक्रिया और लक्ष्य भी है । ''मैं हूँ'' यह लक्ष्य है और अन्तिम सत्य है । प्रयत्न पूर्वक ''मैं हूँ'' इस विचार को पकड़े रहना चाहिये । जब स्वभाविक अनायास यह विचार बना रहे तो यह आत्मसाक्षात्कार, आत्मानुभव की स्थिति है । चित्त लय के लिये विचार की अपेक्षा कोई और प्रभावशाली मार्ग नहीं है । दूसरी पद्धतियों से मन को शान्त किया जाय तो कुछ समय के लिये समाधिस्थ होगा लेकिन पुनः विक्षिप्त हो जायगा । आत्मानुसंधान एक मात्र मन को लय करने का सबसे सरल साधन और सीधा मार्ग है, जिससे पूर्ण निर्गुण अनन्त सत्ता स्वयं आप है, इस सत्य का आप अनुभव कर सकते हैं ।

इससे बढ़कर कोई मूर्खता नहीं कि स्वयं सत्य होकर हम सत्य की तलाश करें, ध्यान करें । हम सोचते है हमारा सत्य कहीं जाकर छुपा हुआ है ढूंढने, खोजने, पुकारने से वह आयेगा, विचार करते करते एक दिन आयेगा जब आप अपने प्रयत्नों पर हंसेंगे कि जो कभी खोया नहीं, वह मैं खोज कर–कर हार रहा था और जब मिला तो यहीं जहाँ से मैंने उसे खोजने हेतु कदम उठाया था, वह अभी और यहाँ है ।

आत्म विचार से भिन्न साधनाओं द्वारा अहंकार या मन को नष्ट करने का यत्न इस प्रकार है जैसे चोर पुलिसका कपड़ा पहने चोर को अर्थात् स्वयं को ढूंढने का, पकड़ने का नाटक करें। आत्मविचार ही सत्य को प्रकट कर सकता है और साधक को आत्मा का अद्वैत सत्ता का अनुभव करा सकता है ।

ध्यान मत कीजिये, केवल बने रहिये जो आप सदा से हैं । कुछ अन्य होने के विषय में विचार मत कीजिये। आप हैं इसमें सन्देह मत कीजिये और न ही आत्मा होने के लिये किसी प्रकार का प्रयास कीजिये । किसी आसन तथा मुद्रा में कुछ समय बैठने को ध्यान मत समझिये । आत्मानुसंधान तो प्रत्येक क्रिया के समय जारी रहना चाहिये । अपने आत्मा होने को कभी मत बिसारिये एवं अपने को देह, प्राण, इन्द्रिय, मनादि कभी मत स्वीकार कीजिये ।

यदि आप सावधान रहकर प्रत्येक उत्पन्न होने वाले विचार का दृढता पूर्वक अस्वीकार करने का अभ्यास करते रहें, तो आप शीघ्र ही महसूस करेंगे कि आप अन्तरात्मा की गहराई में उतरते जाते है ।

''मैं कौन हूँ'' इस अन्वेषण से ही मन शान्त होता है । 'मैं कौन हूँ' यह विचार अन्य विचारों को नष्टकर स्वयं भी नष्ट हो जाता है, जैसे अग्नि सबको जला कर स्वयं भी लीन हो जाती है । विचार उत्पन्न होने पर साधक पूछे कि यह विचार किसे उत्पन्न हुए इसकी तलाश करनी चाहिये तो उत्तर होगा ''मुझे'' । तब यदि वह इस ''मैं'' की तलाश करे तो मन मुड़कर उद्‌गम स्थान आत्मा में वापस आजावेगा और विचार भी शान्त हो जावेगा । इस प्रकार बारम्बार अभ्यास से मन अपने जन्म स्थान आत्मा में रहने की शक्ति भी बढ़ जावेगी। साधक को आत्म भान बनाये रखना चाहिये ।

जब तक चित्त में विषय वासनाएँ है, तब तक साधक को 'मैं कौन हूँ' की तलाश करते रहना चाहिये । जैसे विचार उत्पन्न हो उसी

समय उन्हें उनके जन्मस्थान में ही नष्ट कर देना चाहिये । जो आत्मा से अन्य है उनकी ओर ध्यान न देना **वैराग्य** है और आत्मा को न भुलाना **ज्ञान** है । अपने नित्य मुक्त सच्चे आत्म स्वरूप को जानना **मोक्ष** है । प्रथम यह जानो कि बन्धन मुझे है या मनको ? मनको सतत आत्मा में जोड़ना आत्मानुसंधान है । जबकि स्वयं अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म है, ऐसा विचार करना ध्यान है । गलत अहंकार का त्याग सच्चा वैराग्य, संन्यास एवं योग है ।

ध्यान करने वाले साधक बहुत प्रयास कर थक जाते हैं तब उन्हें यह बोध हो जाता है कि आत्मा कोई दिखने वाला दृश्य पदार्थ नहीं है । आप इस समय 'मैं हूँ' का अनुभव क्या दर्पण को सम्मुख रखकर करते हैं ? यह स्वतः सिद्ध, स्वतः प्रमाण सबको होता है कि 'मैं' हूँ । इसीका ही अनुभव कीजिये, यह ही सत्य है ।

नींद से जगने पर तुरन्त अर्थात् जगत् का भान होने से पहले, वह शुद्ध अहं अहं होता है । उसे पकड़े रखा जाय तो फिर जगत् दिखने से भी द्रष्टा का कोई हानि नहीं है ।

अहंकार क्या है ? इसका अन्वेषण कीजिये । शरीर जड़ है, वह 'मैं' नहीं कह सकता । आत्मा, मैं शुद्ध अद्वितीय सत्ता है–चेतना है । वह 'मैं' नहीं कह सकता । कोई भी गहरी नींद में ''मैं'' नहीं कह सकता, तो अहंकार है क्या ? वह तो जड़ शरीर एवं आत्मा के बीच की कोई कड़ी है ।

योगाभ्यास के साधकों को कभी ज्योति दर्शन, नाद श्रवण या रसास्वादन प्रतीत होता है किन्तु यह अवस्था स्थायी नहीं होती है । मन का लय मनोनाश नहीं है । मनोलय एकाग्रता की वह अवस्था है, जिसमें विचारों की गति कुछ समय के लिये रूक जाती है । जब यह एकाग्रता समाप्त हो जाती है, तब यह रूके हुए विचार मन में पुनः अधिक तेजी से एवं नये विचार लेकर उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार मन

के उपशमन की अवस्था कई हजार वर्ष भी बनी रहे तो भी वह देहाध्यास का नाशकर मोक्ष नहीं दिला सकेगी । इसलिये अभ्यासशील साधक को आन्तरिक रूप से यह अन्वेषण करना चाहिये कि यह आनन्दानूभूति किसे हुई ? यह प्रकाश का अनुभव, नाद का श्रवण किसने किया ? इस अन्वेषण के अभाव में वह साधक दीर्घकाल तक रहने वाली समाधि या योग निद्रा में चला जावे, तो भी बिना आत्मानुसंधान किये कभी मुक्त नहीं हो सकेगा । जिस विचारों को, वासना को लेकर वह समाधि या योग निद्रा में गया है, समाधि टूटने पर हजारों वर्षों के बाद भी वही चिन्तन प्रकट होगा कि मुझे घोड़ा, महल, पत्नी, पानी इत्यादि चाहिये । इसलिये साधक को इस प्रकार की मूर्छित अवस्था को प्राप्त न कर केवल आत्मानुसंधान ही करना चाहिये ।

योग चित्तवृत्ति के निरोध का उपदेश करता है । चित्त वृत्ति निरोध तो भूखे रहने, औषध, नींद, मूर्छा में भी अपने आप से बिना किसी बाह्य साधन के हो जाती है, लेकिन नींद, मूर्छा, औषध के प्रभाव हटने पर पुनः विचार वापस आ जाते हैं, चित्त वृत्ति निरोध का बांध टूट जाता है तो फिर निरोध का क्या उपयोग ? अचेतन, जड़ता, मूढ़ता की शान्ति क्षण स्थायी है, अतः निरर्थक है, उससे स्थायी लाभ नहीं हो सकता ।

मनके साधन से मन को नष्ट नहीं किया जा सकता । मन के साधन से मन को नष्ट करने का प्रयत्न करना मूर्खता है । जैसे कोई चोर पुलिस के कपड़े पहन चोर को ढूंढने निकले तो क्या वह मिल सकेगा ? कभी नहीं । इसलिये मन को भीतर की ओर मोड़ना होगा और मन की उत्पत्ति कहाँ से होती है, यह स्वयं मन से अलग होकर देखना होगा, तब उसका अस्तित्व मिट सकेगा ।

मोक्ष का सबसे सरल सीधा छोटा मार्ग विचार मार्ग है । अहं विचार के मूल की तलाश कीजिये । बस यही एक काम साधक को

करना है । अहं विचार के कारण यह देह संघात् एवं जगत् का अस्तित्व है । गहरी नींद में अहं विचार 'मैं हूँ' न होने से वहाँ देह तथा समस्त दृश्य वर्ग का अभाव हो जाता है और जाग्रत में अहं विचार के जगते ही समस्त मैं–मेरा का संसार खड़ा हो जाता है । यदि अहं विचार के उद्गम स्थान, मूल को खोजलिया जाय तो वह मन नष्ट हो जावेगा । तो दुःख का भी सदा के लिये नाश हो जावेगा । जन्म–मरण संसार क्रम भी समाप्त हो जावेगा ।

जाग्रत होने पर जीव गलत अहं से तादात्म्य करता है, जो झूठा अहं विचार है कि ''मैं'' अमुक हूँ । इस अहं विचार देहाध्यास का उदय–अस्त रोज निद्रा एवं जागने पर होता रहता है । लेकिन अहं का, मैं का जो सच्चा अर्थ आत्मा है वह न कभी उदय होता है और न कभी वह अस्त या नष्ट होता है । आपके होने में कभी कटाव या विराम नहीं होता है । आप तो मनके विचारों के लय एवं उत्थान के भी नित्य प्रकाशक बने रहते हैं ।

गहरी नींद में आपको कोई दुःख एवं विचार नहीं होते हैं, किन्तु इस समय दुःख के बादल बरस पड़ते हैं एवं विचारों का बाध भी टूट जाता है । अब विचारे कि नींद में क्या था एवं अब जगने पर क्या हुआ ? इसका अन्तर भेद, मालुम पड़जाता है । नींद में अहं विचार, मैं–मेरा का भान नहीं था किन्तु जागने पर सब भयानक जंगल बाघ, भालू, साँप, बिच्छु, खटमल, मच्छर निकल पड़े जहाँ वे गहरी नींद में बन्द पड़े थे । सच्चा अहं तो दिखता नहीं एवं झूठा अहं आत्मा बनकर स्वयं को दिखा रहा है । यह मिथ्या अहं देहाभिमान आपके सच्चे अहं के बोध का विरोधी है । तलाश कीजिये कि झूठा अहं कहाँ से उत्पन्न होता है, तब वह लुप्त हो जायगा । तब आप वस्तुतः जो हैं, पूर्ण सत्ता हैं, वह रहेंगे ।

'मैंने अनुभव नहीं किया'– यह भाव ही अनुभव के मार्ग में रूकावट है । वस्तुतः वह आत्मा पहले से ही 'मैं' रूप में अनुभव गोचर है। कोई नया अनुभव आवश्यक नहीं । यदि वह अब तक सत्तारूप से अस्तित्व नहीं था और अब उसे नये रूप में प्राप्त किया जा रहा है तो वह अनित्य, वह मिथ्या होने से उसे प्राप्त करना बेकार है । इसलिये जिसे हम ढूंढ रहे है वह ऐसा नहीं है, जिसे प्रथम बार नये ढंग से अस्तित्व में आना है । वही तो एक मात्र नित्य तत्त्व है, लेकिन झूठा 'मैं' के आवरण के कारण जाना नहीं जा रहा है । जैसे पंचकोश, तीन अवस्था के आवरण के कारण 'मैं आत्मा हूँ' ऐसा स्पष्ट बोध नहीं हो पा रहा है । इसी कारण जीव अनेक कष्टप्रद साधन कर, उसे अन्य जान, बाहर–बाहर सारे जीवन खोज–खोज कर नित्य प्राप्त पदार्थ का अनुभव किये बिना निराश हो देह त्याग देता है ।

जो हमें करना है वह यही कि रूकावट को या आवरण को हटाना है । जो नित्य है वह मैं हूँ । परन्तु देहाभिमान के कारण यह परम सत्य को नहीं जाना जा रहा है । अज्ञान के कारण रूकावट है । अज्ञान को ज्ञान से हटाइये और आत्मा होकर रहिये ।

मुझे इसका अनुभव क्यों नहीं होता यह कौन कहता है ? क्या यह सच्चा 'मैं' व अहं कहता है कि मिथ्या अहम् ? इसकी खोज कीजिये, आपको तब पता चलेगा कि यह मिथ्या 'अहं' है जो देह में 'मैं' भाव कर रहा है । यह मिथ्या अहं ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस भाव के जाग्रत होने में रूकावट है इसे हटाना जरूरी है ।

अहं विचार ठोस नहीं है , यह प्रेत जैसा अदृश्य रहने वाला है । यह शरीर के साथ अहं बचपन से बढ़कर किशोर, यूवा, प्रौढ़ तक बढकर वृद्धावस्था में अहं घटने लगता है । यह देहाभिमान मिथ्या है । इसे छोड़ना है तो इसके मूल की तलाश कर इसे नष्ट किया जा सकता है । देहाभिमान को नष्ट करने के लिये इसके मूल की तलाश

के अलावा कोई स्वतन्त्र मार्ग नहीं है । ''मैं हूँ'' ऐसा शरीर नहीं कहता, आप कहते हैं । ''मैं'' कौन हूँ ? इसकी तलाश कीजिये । उसके मूल का अन्वेषण करने से ही वह लुप्त होगा । आत्मा नित्य साक्षात् है । अनात्मा विचार ही रूकावट है । आत्मा नित्य है, अपरोक्ष और साक्षात् है ।

जो आवश्यक है वह केवल इतना है कि आप इस नाम, रूप, आकार प्रकार के शरीर को मैं हूँ – इस मिथ्या धारणा, मिथ्या मैं भाव को छोड़ देना आपके वास्तविक स्वरूप में किसी भी विशेष भावना की आवश्यकता नहीं है । वह हमेशा जैसा है वैसा ही रहता है । वह सत्य है, कोई भावना नहीं ।

आपका सच्चा स्वाभाव कुछ करना नहीं है । खाना–पीना, चलना, जाना–आना, पढ़ना–लिखना यह सब क्रियाएँ प्रकृति के द्वारा होता है, आपका स्वभाव केवल होना है । चलना, लिखना, खाना, पीना आदि सापेक्ष एवं गौण है । जब तक आप अपनी इस शुद्ध असंग, निष्क्रिय सत्ता को न जानले, तब तक आत्म अनुसन्धान करते रहना चाहिये । एकबार यदि आप इस आत्मनिष्ठा में प्रतिष्ठित हो गये, तो फिर कभी मिथ्या अहं में नहीं जुड़ेंगे ।

आप जो हैं वही रहें । न कुछ नीचे उतरता है, न ही प्रकट होना है । अहं का लुप्त होना जरूरी है । जो है वह हमेशा है वह आप है। इस विचार के समय भी आप वहीं हैं । शून्य को देखने वाले भी आप है, उस शून्यावस्था के प्रकाशक, साक्षी, चेतन ज्ञान रूप आप वहाँ न होंगे तो शून्य को कौन बता सकेगा ? 'मैंने कुछ नहीं देखा' यह विचार एवं कुछ देखने या पाने की अपेक्षा यह सब अहंकार का काम है । अज्ञानी अहंकार के जाल में फंस कर ऐसा कह रहा है । यह आप नहीं है । आप तो अभी भी वही बने रहिये, जैसे सुषुप्ति में निर्विचार, निरहंकार

रहते हैं । आप जन्म–मरण, आने–जाने, सुख–दुःख, बन्ध–मोक्ष से मुक्त आत्म रूप बने रहें ।

आत्मा को जानने का अर्थ आत्मा होकर रहना है । क्या आप कह सकते हैं कि मैं आत्मा को नहीं जानता ? आपका यह कहना ही सिद्ध करता है कि आप स्वयं आत्मा है । क्योंकि मृत पुरुष या जड़ पदार्थ अपने होने को बोलकर प्रमाणित नहीं कर पाता है । यद्यपि आप अपनी आंखों के होने के लिये किसी अन्य व्यक्ति या दर्पण को प्रमाण रूप नहीं मानते, उसके लिये आप स्वयं प्रमाण है । दिखाई पड़ना ही यह आँख होने का प्रत्यक्ष स्वतः प्रमाण है । कोई अपने आंख, कान के अस्तित्व को इन्कार नहीं कर सकेंगे ।

इसी प्रकार आत्मा वस्तु रूप दृश्य नहीं होने से क्या अपने आपका कोई इन्कार कर सकता है कि 'मैं नहीं हूँ' क्योंकि आपका बोलना ही सिद्ध करता है कि आप चेतन आत्मा है । ''मैं आत्मा को नहीं जानता'' तो यह न जानना सापेक्ष ज्ञान अन्तःकरण की दृष्टि से है । जीव को इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान की इतनी गहरी पुरानी आदत हो गई है कि अपने आपको भी आप इन्द्रिय दृष्टि से देखना चाहते है । आत्मा को वस्तु रूप इन्द्रिय द्वारा नहीं देखा जाता, फिर भी अज्ञानी यही बात कहता है कि मैं आत्मा को किस प्रकार देख सकूँगा ।

आपका कर्तव्य केवल आत्मा होकर रहना है, केवल होना है, यह या वह होना नहीं है । '**मैं हूँ वह मैं हूँ**' 'I am that I am' मैं अमुक हूँ इस भ्रान्त विचार का त्याग कर दीजिये । आत्मा का अनुभव करने के लिये देह भाव का त्याग कर देने का निश्चय होना आवश्यक है । इससे सरल और क्या साधन हो सकता है ? इस कारण आत्म विद्या प्राप्त करना सबसे सरल है ।

जो सबका निषेध करता है उसी तरह अपना निरसन नहीं कर सकता । ''मैं यह नहीं हूँ'' अथवा 'मैं वह हूँ' ऐसा कहने के लिये मैं

अवश्य होना चाहिये । यह 'मैं' अहंकार है, जिसके उत्पन्न होने के बाद ही दूसरे विचार जैसे ''मैं'' देह हूँ उत्पन्न होते हैं । इस मुख्य विचार के बाद फिर जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त इसे जो कुछ पिता–माता, परिवार तथा समाज से प्राप्त हुआ है, उस मिथ्या झूठे अहंकार के मूल अहं की तलाश की जाय तो सब वृत्तियाँ लुप्त हो जायगी और शुद्ध आत्मा तुम शेष रह जाओगे । मैं का अनुभव निरन्तर सबको होता है । नेति–नेति तो उसीके द्वारा कहा जा सकता है, जो हटाया नहीं जा सकता, जो 'इति' है । जैसे सूत के गोले में सूत के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है, उसी प्रकार त्रिपुटी रूप व्यवहार होने पर भी द्रष्टा, दर्शन,दृश्य रूप में एक परमात्मा के सिवा यहाँ कुछ अन्य नहीं है । त्रिपुटी रूप देखना व्यर्थ है ।

हम सच्चे अहम् का किसी एक शरीर के साथ तादात्म्य करते हैं अर्थात् आत्मा को शरीर मानते हैं । अमर्यादित अहं को सीमित मर्यादित देह में जोड़ देने की भूल करते हैं । इसी कारण परेशानी है । हमें जो करना है वह यही कि आत्मा को शरीर के साथ एक रूप मानने की जो गलती कर रहे हैं, उसे जड़ मूलसे मिटादे । आत्मा भीतर है, इसलिये अहं विचार के जन्म स्थान की ओर मन को मोड़े ।

शुद्ध चैतन्य जो सत्य है वह अविभाज्य है, उसमें विभाग, सीमा नहीं है । उसका कोई रूप या आकार नहीं है । भीतर–बाहर, दाया–बाँया उसमें नहीं है । शुद्ध चैतन्य आत्मा जो कि हृदय है, सबको अपने भीतर समाविष्ट किये हुए है । उससे बाहर या भिन्न कुछ भी नहीं है, यह अन्तिम सत्य है ।

आना–जाना, किसी एक स्थान पर रहना, किसी एक काल या किसी एक रूप में रहना आप के लिये नहीं हो सकता । क्योंकि उस एक सर्वव्यापक आत्मा–जो वास्तव में आप है – उसके सीमा में बांध रखना कैसे हो सकता है ? आपतो जहाँ होते है वहीं है । आपका

शरीर एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाया जाता है, आप तो अचल सनातन तत्त्व है ''**अचलोऽयं सनातन**'' । ''मैं हूँ'' बस यही पूर्ण है । वह अन्दर–बाहर या दायी–बाँयी किसी ओर नहीं है । यह आगे–पीछे, दाये–बांये, ऊपर–नीचे तो शरीर की अपेक्षा से कहे जाते हैं । जो जाग्रत से सुषुप्ति अवस्था में एक जैसा है, वह मैं को पकड़े रहिये । उसी में 'मैं' भाव बनाये रखें, तो शाश्वत सत्ता स्वयं प्रकट होगी ।

''मैं हूँ वह मैं हूँ'' इसका अनुभव कीजिये । जानो कि मैं ब्रह्म हूँ, सोचो नहीं केवल जानो ।

समर्पण का अर्थ है स्वयं को अर्थात् मिथ्या अहं को, मिथ्या मैं को अपने मूल कारण सच्चे शुद्ध आत्म भाव में पूर्ण रूपेण गलादे, जैसे नदी सागर में आत्म समर्पण कर देती है । ऐसा मत सोचिये कि आपका ईश्वर किसी पहाड़, गुफा, नदी, तट, जंगल या किसी अन्तरिक्ष में बाहर है । आपका मूल कारण ब्रह्मात्मा आपके अन्दर है, आप है । उसके हवाले अपना मिथ्या अभिमान को गला दीजिये । अपने मूल की तलाश कर जीव को उसमें समा जाना चाहिये ।

यदि मन, वाणी, चित्त शरीर के सब कार्य परमात्मा के समर्पित कर दिये जाय तो हमारे जीवन का पूराभार उस पर होगा । तो समस्याएं अपने आप सुलझती जायेंगी । मुझे निमित्त बनाकर वह उच्च शक्ति कार्य करा रही है, मैं कर्ता नहीं हूँ – यदि जीव इस व्यवस्था को स्वीकार करता है तो वह सब करते हुए भी अकर्ता एवं मुक्त है । कर्म बन्धन रूप नहीं, कर्तृत्वाभीमान ही बन्धन रूप है । कर्म बन्धन रूप होता तो कोई भी जीव अथवा ईश्वर कभी मुक्त नहीं हो पाते । क्योंकि कोई भी जीव या ईश्वर कर्म किये बिना एक क्षण भी नहीं रहते है ।

जीव यह नहीं सोचता है कि मेरा श्वाँस भीतर व बाहर किसकी चेष्टा से हो रहा है ? भोजन का अन्दर रस, रक्त, मांस, हाड़, रज,

वीर्य कौन बनाता है ? रज वीर्य मिश्रण के बाद शरीर का कौन निर्माण करता है ? एक के बाद दूसरा कदम कौन उठाता है ? बचपन से किशोर, यूवा, प्रौढ़ कौन बनाता है ? शरीर के रोम बाल कैसे काटने के समय से ही बढ़ते जाते हैं ? कटे चमड़े को, मांस को, टूटे हाड़ को कौन जोड़ता है ? अन्न, जल का परिणाम मल–मूत्र कौन बनाता है ? तब फिर मैं कुछ क्रियाओं में अपने करने का अहंकार बीच में क्यों जोड़ देता हूँ ? क्या हम प्राणों को, मृत्यु को, भूख–प्यास को रोक सकते है ? सब अनजाने में हो रहा है, अतः मैं अकर्ता द्रष्टा मात्र हूँ ।

यह या वह छोड़ने की प्रतिज्ञा करते हैं फिर भी छूट नहीं पाता है । अतः आप यह, वह, छोड़ने की बजाय मैं–मेरा का सीधा त्याग क्यों नहीं कर देते हैं, तो सब झगड़ा ही समाप्त हो जावे ।

जब सारा संसार परमात्मा है तो क्या आप संसार से अलग है ? नहीं । जब सब में परमात्मा है तो फिर क्या वह आप में नहीं होगा ? क्या आश्चर्य है कि पहाड़, नदी, वृक्ष, गाय, सांप, पत्थर मूर्ति, चित्र सब को परमात्मा मानने वाला तब क्या मनुष्य में वह नहीं होगा ? आप स्वयं ईश्वर ही है । आपको छोड़ सब तथा ईश्वर भी अपूर्ण है । आप ब्रह्म है तो सब ब्रह्म है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं । पर यह पूर्णता का बोध सच्चे सद्गुरु के प्राप्त किये बिना नहीं होगा ।

सच्चा गुरु वही है जिसने आत्म साक्षात्कार किया है एवं अपनी शक्ति द्वारा किसी मुमुक्षु को भी आत्म साक्षात्कार करादेने की सामर्थ्य रखता हो । जिसके सानिध्य में शान्ति का अनुभव हो, चित्त प्रसन्न हो, उसके समीप से जाने की इच्छा न हो, वहाँ पहुँचते ही समस्त शंकाए शान्त हो जाए और जो साधन का बोझा हटा सके । अपने ही भीतर परमात्मा का अनुभव करा देता है । दृष्टि से दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट कर सके । जो समदर्शी हो, उसमें क्षमा, धैर्य, शान्ति, प्रेम की धारा बहती हो । उनके प्रति पुण्यभाव उत्पन्न हो ।

साधक को मन से, इन्द्रियों से, दिखने वाले दृश्यों के जंगल से गुरु के बिना कोई नहीं निकाल सकता । गुरु आत्म साक्षात्कार कराता नहीं है । प्रत्युत उस साक्षात् का साक्षात्कार होने में जो रुकावट है उन्हें मन बुद्धि से निकाल, जीव की देह से अहं बुद्धि निकाल कर आत्मा का 'मैं रूप' से ज्ञान करा देता है । जो साक्षात् परम ब्रह्म रूप से शास्त्रों में बतलाया गया है, जो वस्तुतः आत्मा है, उससे लिपट जाइये । उनकी श्रद्धा से सेवा कर जन्म से मृत्यु तक के दुःखों से छूटने का साधन जानना चाहिये । क्योंकि यह सब दुःख आत्मा से च्युत तथा देह के साथ तद्रुप होने से हुए है । अतः दृढ़ता पूर्वक आत्मनिष्ठ होकर रहना चाहिये ।

अनुग्रह अर्थात् आत्मा हर समय मौजूद है, वह किसी की कृपा की अपेक्षा से नहीं होने वाला है । ऐसा कोई क्षण नहीं जब अनुग्रह आपमें सक्रिय न हो । वह आत्मा है और वह आप है । पानी में मछली प्यासी हो ऐसा ही जीव ब्रह्मसाक्षात्कार का प्यासा है, जबकि वह स्वयं उसी में है, उसी से है और वह स्वयं वही है । यदि जीव ईश्वर के प्रति अपराध करता है तो गुरु उसे उस दोष से मुक्त करता है लेकिन गुरु के प्रति किये गये अपराध से स्वयं ईश्वर भी मुक्त नहीं करता ।

गंगा पापं शशीतापं दैन्य कल्प तरु ।
पापं तापं चदैन्य हरेत साधु समागमः ।।

चन्द्र ताप को, गंगा पाप को, कल्प तरू दरिद्रता को नष्ट करते हैं । निर्मल साधु महात्मा के दर्शन से ही यह सब नष्ट हो जाते हैं ।

तीर्थ एवं देव बहुत समय के पश्चात लोगों के चित्त को शुद्ध करते हैं, जबकि साधु पुरुष अपनी निर्मल दृष्टि मात्र से तत्काल जीव की पाप कर्म रूप देहभाव से मुक्ति करादेते हैं । आत्म निष्ठ महात्माओं के संग से जीव के हृदय में आत्मविचार, ब्रह्म जिज्ञासा जाग्रत होती है ।

सत्संग से संसारी वस्तुओं में वैराग्य होता है । वैराग्य होने से उन पदार्थों में ममता नहीं रहती है । निर्मोहता से चित्त में निश्चल तत्त्व, आत्मा में मन लय हो आत्म निष्ठ हो जाती है, जिससे जीवन्मुक्त हो जाता है । अतः सभी को अन्तिम श्वाँस तक सत्संग करते रहना चाहिये । सत्संग का त्याग प्रमाद है ।

ऊँचे–ऊँचे, जोर शोर से घन्टे भर प्रवचन करने पर भी श्रोता के मन में कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वह खाली उठकर जैसा आया था वैसा ही चला गया, ऐसे प्रवचन का क्या लाभ ? इसकी अपेक्षा कोई घंटे भर किसी सच्चे संत के पास बैठे तो उस व्यक्ति की अपनी जीवन दृष्टि बदल जावे और वह परिवर्तन के साथ वापस जाता है, यह मौन उपदेशक संत ही कल्याणप्रद है ।

क्या आत्मा व परमात्मा, गुरु के पास जाने से पहले, जिज्ञासु शिष्य के अन्दर नहीं है ? क्या सद्गुरु अपने आश्रम के बक्से में से या अपनी झोली कमण्डलु से निकालकर शिष्य को दान करेगा ? यदि गुरु इस प्रकार कुछ अपने पास से निकाल कर विभूति, ताबिज, माला, कड़ा, चूड़ी, रूद्राक्षादि दे तो जानना वह सब अनित्य पदार्थ है और वह गुरु सद्गुरु कहलाने योग्य नहीं है । क्या कोई आत्मा के बिना हो सकता है ? नहीं । तो सब समय जीव का सत्संग बना है । सत्संग अर्थात् ''सत्यवस्तु के साथ सम्पर्क'' । सत्य के बिना कोई एक क्षण नहीं है । पर इसका सभी को बोध नहीं है । इसलिये ऐसे महापुरुष के समीप जाना पड़ता है जिसने सत्य का बोध कर लिया है । शंकराचार्य ने कहा है कि सत्संग के समान तीन लोक में कोई नौका नहीं जो जीव को जन्म–मरण भय से पार कर सके ।

चित्त को हमेशा आत्मा में स्थिर रखना आत्मानुसंधान है और मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा विचार ध्यान है । जो विचार करने के योग्य नहीं है, उन्हें ध्यान करना चाहिये ।

मानसिक रूप से अपने को सच्चिदानन्द होने की कल्पना करना, ध्यान है । अन्वय व्यतिरेक द्वारा अर्थात् सत्य असत्य के विवेक द्वारा देह संघात् से हटा कर मैं सच्चिदानन्द आत्मा हूँ यह विचार द्वारा मनको आत्मा में निष्ठ करना चाहिये । 'मैं ब्रह्म हूँ' यह देहाध्यास के बीज को नष्ट करने वाला विचार है ।

सुख दुःख मन के धर्म हैं । आनन्द हमारा सहज स्वभाव है । लेकिन हमने अपने सहज आनन्द स्वरूप आत्मा को भुलाकर देह, इन्द्रिय, प्राण, मनादिको मैं अर्थात् आत्मा मान लिया है । यह गलत तादात्म्य हमारे दुःख का कारण है । उसे अवश्य नष्ट करना होगा, तभी हमारा सच्चा स्वभाव–आनन्द प्रकट हो सकेगा ।

'मैं ब्रह्म हूँ' यह केवल विचार है । ऐसा कौन कहता है ? ऐसा ब्रह्म तो कहता नहीं, झूठा 'मैं' ही देह संघात् में अभिमान करके ऐसा कहता है अर्थात् अहंकार से उत्पन्न सभी विचार झूठे है । आप आत्मा निर्विचार है एवं उसी भाव में सर्वदा रहिये ।

'मैं ब्रह्म हूँ' यह चंचल मन को एकाग्रता का अवलम्बन है, क्योंकि वह दूसरे विचारों को दूर करता है । जब वही एक विचार रहे, तब देखिये कि यह विचार, कल्पना किसकी है ? पता चलेगा कि वह 'मैं' से उत्पन्न होता है । यह 'मैं' कहाँ से आता है ? इसकी तलाश कीजिये तो यह 'मैं' अदृश्य हो जायगा और परम आत्मा अपने आप प्रकाशित होगा । इसके बाद किसी प्रकार के साधन तथा प्रयत्न की जरूरत नहीं है ।

जब केवल एक सच्चा 'मैं' रहेगा, वह 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा नहीं कहेगा । क्या मनुष्य 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा बार–बार कहता है ? मनुष्य है तो है कहने की, चिल्लाने की क्या जरूरत है ? उसे कौन पशु कह कर ललकार रहा है कि तू पशु है । जो उसको जवाब में कहेगा कि मैं पशु नहीं मैं मनुष्य हूँ ? क्या कोई स्वयं को भूल से पशु मानता है ? फिर

क्या उसे पशु भाव को भूलाने के लिये यह जप करना पड़ेगा कि 'मैं पशु नहीं, मैं मनुष्य हूँ' ? इस प्रकार ब्रह्म कहो या मैं, एक मात्र सत्य ही है, जिसका अस्तित्व है । वहाँ उसे कोई दूसरा चुनौति देने वाला नहीं की तू जीव है ब्रह्म नहीं और फिर जिसे तुम्हें जवाब देना पड़े कि 'मैं जीव नहीं, मैं ब्रह्म हूँ' । सोऽहम्, शिवोऽहम बार–बार बोलने की, गर्जना करने की घोषणा करने की कोई जरूरत नहीं है ।

प्रकाश, त्राटक, जप, भ्रूमध्य में मन स्थिर करने से मन कुछ समय के लिये निर्विचार, जड़, मूढ़ निष्क्रिय हो जाता है, इससे कोई स्थायी लाभ नहीं होता । प्राणायाम इच्छा शक्ति को कुछ समय के लिये निष्क्रिय करदेता है । परन्तु इससे स्थायी लाभ नहीं । यही बात मन्त्र जाप, त्राटक, नाद श्रवण की है ।

मैं हूँ यह प्रत्यक्ष आत्म साक्षात्कार सब मनुष्यों को प्रतिक्षण हो रहा है फिर भी अज्ञानता के कारण जीव स्वयं आत्मब्रह्म को छोड़कर, किसी कल्पित ईश्वर की तलाश में इधर–उधर भटकता, प्रार्थना, पूजा करता है, कोई भ्रूमध्य में मानता है ।

जैसे अपने आपको जानने के लिये दर्पण की आवश्यकता नहीं रहती है, इसी तरह आत्मा को जानने के लिये पढ़ाई अथवा धर्म ग्रन्थों के ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती है । समस्त ज्ञान अन्त में अनात्मा मान त्याग देना चाहिये ।

अहं ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम है । सब मंत्रों में सर्व प्रथम एवं सबसे महान् है । ओंकार भी दूसरे स्थान में है । स्वयं आत्मा हमेशा अपने आप अहं–अहं दोहराता है, यह अजपा है । नाम, जप का अर्थ है उस नाम से जानी जाने वाली वस्तु या व्यक्ति का स्मरण । नाम नामी से मिलाने का बोधक है । अतः नाम में न अटको बल्कि नामी की खोज करो । रसोई की पुस्तक पढ़ने से भूख नहीं मिटती इसी प्रकार वेद, शास्त्र पढ़ने, रटने से भवरोग से मुक्ति नहीं मिलती । उसके लिये तो गुरु द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करना होगा । दीर्घकालीन

रोग केवल औषध के नाम जप करने से दूर नहीं होगा । उसके लिये औषध सेवन करना पड़ता है । इसी प्रकार जन्म–मरण, भव बन्धन, भव रोग से छूटने हेतु सोऽहम्, शिवोऽहम्, अयमात्मा ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि मंत्र असंख्यों बार रटते फिरते रहने से नहीं कट सकता । बल्कि तद्रुप बनकर रहने से कटेगा। इसलिये 'मैं ब्रह्म हूँ' रटते रहने से यह भव बन्धन दूर नहीं होगा बल्कि ब्रह्म रूप में स्थिर होकर रहने से ही दूर होगा ।

'मैं करता हूँ' यह भाव बन्धन देने वाला है । अपने आप से पूछिये कौन काम करता है ? मन करता है । तब आपको कर्म बन्धन नहीं करेगा । वह अपने आप प्रकृति द्वारा होता रहता है । काम करने या न करने का प्रयत्न करना भी बन्धन है । जो होना है वह होकर रहेगा, नहीं होने वाला चाहने पर भी नहीं होगा ।

जब आप एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं, तो हर कदम पर ध्यान नहीं देते है, तो भी अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाते हैं । आपके देह के समस्त भीतरी काम बिना ध्यान दिये भी होते रहते हैं । अतः आप कर्ता न बने साक्षी रहें ।

जन्म के समय ही व्यक्ति का कर्म निश्चित कर दिया जाता है कि वह कौनसा कर्म करेगा । उसका स्वीकार या त्याग आपके हाथ में नहीं । आपके हाथ में तो मन को बाहर से मोड़ भीतर करने मात्र की स्वतन्त्रता है ।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।

गीता ३/३३

रास्ते में आप एक वाहन छोड़ दूसरे वाहन पर या तीसरे वाहन पर बैठ मन्जिल पर पहुँच जाते हैं । पूरे मार्ग में वाहनों की गति हुई किन्तु 'मैं चलकर आया हूँ', यह मिथ्या भ्रम करलेते हैं । वाहनों की

गति का आरोप आप अपने में कर लेते हैं, इसी प्रकार समस्त कर्म देह संघात् द्वारा, प्रकृति द्वारा होते हैं और आप 'पर' के कार्य को 'स्व' के कर्म 'मैंने किया, मैंने देखा, मैंने सुना आदि भ्रम से मान लेते हैं। यही जीव के बन्धन का कारण है । गीता : ३/२७

आसक्ति से किया गया कर्म बन्धन है और अनासक्ति से किया गया कर्म कर्ता पर कोई प्रभाव नहीं डालता है । इस प्रकार कर्म कर्ता (ज्ञानी) कर्म करते हुए भी एकान्त में है, यह एकान्त स्थान का नहीं मन का है । इच्छा रहित मनुष्य जहाँ भी रहे एकान्त में है । इच्छा वाला व्यक्ति एकान्त जंगल में रहकर भी भीड़ में है । गीता : १८/१७

आप नित्य शुद्ध है । आप की इन्द्रियाँ व मन आप को ललचाते है, जिन्हें आप अपना होना व सच्चा मानते हैं । यही सबसे बड़ी भूल है । पहले खोज कीजिये कि इच्छा किसे होती है ? ललचाने वाला कौन है ? यदि फिर भी व्यभिचार करे तो उसे सोचे नहीं क्योंकि आप नित्य शुद्ध है । पाप का स्पर्श आप को नहीं हो सकता । स्वभाव से आप निष्पाप है ।

अहंकार के मूल की तलाश करने से तथा हृदय की गहराई तक जाने से आत्मा तक पहुँचा जा सकता है । यह आत्म साक्षात्कार की सीधी पद्धति है । जो लोग इस विचार मार्ग पर चलने में असमर्थ है, उन्हें कर्म, भक्ति अथवा योगमार्ग में चलने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है । इसीलिये अधिकारी भेद से गीता में कर्म, भक्ति, योग तथा ज्ञान मार्ग को दर्शाया है ।

जो लोग अपने मन को विचार द्वारा वश में नहीं कर सकते, ऐसे लोगों के लिये प्राणायाम साधन बतलाया जाता है । प्राण स्थिर रहने तक तो शान्ति रहेगी परन्तु यह स्थायी शान्ति नहीं है ।

साधक को किसका वियोग हुआ है जो योग की इच्छा करेगा ? योग के लिये उसका आपसे दूरी का होना आवश्यक होगा तभी आप

योग का साधन कर सकेंगे । किन्तु परमात्मा से तो कभी एक क्षण को भी किसी जीव का वियोग हुआ ही नहीं । आत्मा आप के निकट से निकट है और उसे आप सब समय 'अहं' के रूप में, ''मैं'' के रूप में अनुभव भी करते हैं । उसे पहचानिये और उसी में तन्मय, दद्रुप हो जाइये ।

विचार मार्ग में चलने वाला साधक मनो निग्रह हेतु प्राणायाम के अभ्यास में अपने समय का दुर्व्यय न करके सीधा ही, आत्मानुसंधान द्वारा मन का निग्रह करलेता है । प्राण गति का केवल निरीक्षण भी एक प्रकार का सरल सीधा साधन है । शरीर के साथ तादात्म्य का त्याग **रेचक** है । 'मैं कौन हूँ' की तलाश करने के लिये अन्दर लीन होना **पूरक** है तथा 'मैं वह हूँ' इस प्रकार एक सत्य के रूप में स्थिति करना **कुंभक** है । यह ज्ञान मार्ग में सच्चा प्राणायाम है ।

ज्ञानी सभी मार्गों पर चलने वालों की सहायता करता है । जिस मार्ग से स्वयं चला था, उसी मार्ग पर चलने को सबको बताया जाय तो वह मार्ग सबको पसन्द नहीं होगा । यदि उन्हें जबरन चलाया जाय तो वे मन्जिल तक नहीं पहुँच सकेंगे ।

अज्ञानी मनुष्य अपने को परिवर्तनशील शरीर, इन्द्रिय तथा मन में बाँध लेता है एवं जो अपना शाश्वत सच्चा निर्विकार अचल रूप है उस को भूल जाते हैं । जो करना आवश्यक है वह केवल इतना ही कि इस गलत तादात्म्य का त्याग करें । ऐसा करने से नित्य प्रकाशमय आत्मा, एक अद्वितीय सत्य रूप में प्रकट हो जायगा ।

आप हठयोग, कुण्डलनीयोग, अष्टांग योग, कर्म योग, भक्ति योग एवं अन्य साधन के पीछे क्यों पड़े है ? क्या आपका अस्तित्व आत्मा वर्तमान में नहीं है ? आप अपने नित्य आत्मा स्वरूप को छोड़कर क्यों किसी बाहरी साधन के पीछे पड़े हैं ? केवल अपने आप को जानने के लिये इन सब साधन की क्या आवश्यकता ? सच यह है कि आत्मा से

अहंकार उत्पन्न होकर स्वयं को शरीर से अभिन्न मानने की गलती को मिटाना है ।

चिदाकाश अर्थात् शुद्ध ज्ञानाकाश रूप प्रसिद्ध अधिष्ठान रूप आत्मा ही वह सर्वोच्च आधार–आसन है, जिस पर सम्पूर्ण विश्व आश्रित है । ऐसे ज्ञान से विचलित न होने की दृढ़ता प्राप्त करना ही स्थिर तथा निश्चल सुखासन है । जिसमें बैठने से सहज समाधि लगती है । जो लोग इस हृदयासन में बैठ चुके हैं उन्हें किसी दूसरे आसन की आवश्यकता नहीं है । भ्रान्त मनुष्य यह नहीं जान पाता है कि वह स्वयं सबका केन्द्र आश्रय है । ज्ञानी जगत् को अपने से भिन्न नहीं देखता है । लेकिन जब आप अपने को शरीर से एक करते हैं, तो नाम, रूप दिखते हैं और जब आप शरीर से अपने को प्रथक देखते है, तब नाम, रूप दूसरे सभी दृश्य अदृश्य हो जाते हैं ।

आनन्द भिन्न नहीं होता । आनन्द एक ही है, जो जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप है । इसमें ब्रह्मा से लेकर निम्न स्तर के पशु तक के सभी प्रकार के जीव जिस सुख का अनुभव करते हैं, उन सभी आनन्दो का समावेश है, वह आत्मा का आनन्द है। जिस आनन्द का अनुभव नींद में, अज्ञान अवस्था में होता है, उसी का अनुभव तुरीय में सभान अवस्था में होता है । जाग्रत सौपाधिक आनन्द है ।

आत्मा से अलग मन का अस्वीकार करना ही मन का अंतिम सच्चा नाश है । इस समय भी मन नहीं है । इस सत्य का अनुभव कीजिये । मन आत्मा से प्रकट हुआ एक असत्य आभास मात्र है । दैहिक जीवन निर्वाह चलाने वाला मन सत्य नहीं है ।

लोग अन्धे ही रहकर जगत् से अन्धे ही चले जाते हैं । सद्गुरु कृपापात्र कोई भाग्यशाली जीव ही अन्दर चलने वाले अजपा, सहज जाप का श्रवण करते हैं एवं ज्ञान चक्षु प्राप्त कर घर बैठे परमात्मा का अनुभव करलेता है ।

अतः ज्ञान प्राप्ति को ही लक्ष्य मानकर उसे प्राप्त करने की चेष्टा करना चाहिये । सिद्धि के प्रदर्शन के लिये दूसरे का भीड़ का होना जरूरी है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जो सिद्धि प्रदर्शन करता है, उसमें ज्ञान नहीं है । अतः सिद्धियों का विचार करना अज्ञान है । जड़ काष्ठ–पाषाण की तरह कुछ समय अडिग बैठ जाने से कोई लाभ नहीं । सच्ची समाधि वही है, जिसमें आप अपने आत्मा को जानते हैं । प्रत्येक व्यक्ति बिना प्रयास रोज गहरी नींद में तो इस अवस्था को प्राप्त होता है, पर जाग जाने पर फिर वही द्वैत पना आ जाता है । अपना आत्मभाव बना रहना ही सहज समाधि है ।

समाधि जीव का सहजावस्था है । वह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति – इन तीनों अवस्थाओं के दौरान निरन्तर बहनेवाला आन्तर प्रवाह है । यह अवस्थाऐं आत्मा की नहीं है, ये तीन अवस्थाएँ बुद्धि की है जो आत्मा में कल्पित है । सच्ची समाधि वही है जिसमें आप अपने को आत्मा रूप से जानते हैं ।

नेत्र सबकुछ देखता है पर वह अपने ही पुतली को नहीं देख सकता क्योंकि वह तो देखने वाला होता है । इसी प्रकार परमात्मा स्वयं सर्व द्रष्टा, ज्ञान स्वरूप होने के कारण, वह अपने को दृष्टि का विषय नहीं बना सकता ।

दर्शन द्रष्टा के होने को सूचित करता है । द्रष्टा आत्मा के अस्तित्व को कोई इन्कार नहीं कर सकता । एक भी क्षण ऐसा खाली नहीं है, जब चेतन आत्मा का अस्तित्व न हो और द्रष्टा चैतन्य आत्मा से अलग नहीं रह सकता । यह चेतना शाश्वत सत्ता है । द्रष्टा अपने आप को देख नहीं सकता । वह द्रष्टा अन्य पदार्थों को जैसे अपनी आँखों से देखता है इस प्रकार आत्मा को नहीं देख सकता । फिर भी वह अपनी सत्ता का, अस्तित्व का इन्कार नहीं कर सकता ।

प्रत्यक्ष अर्थ देखना नहीं बल्कि होना है और होने का अर्थ अनुभव करना है । आप शिव से प्रथक नहीं हो सकते । अतः मैं हूँ– वह 'मैं हूँ' ही शिव है । उसके बिना कुछ भी नहीं हो सकता, क्योंकि हर स्थल और हर पल में शिव विद्यमान है । अतः अभी और यहाँ भी है और अनुभव गोचर है। मुझे शिव का अनुभव नहीं है, ऐसा सोचना ही गलत है । शिव के अनुभव में ऐसा सोचना ही विघ्न है ।

अहमात्मा गुड़ाकेश सर्वभूताशय स्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।।१०/२०

भगवान कहते है – हे आत्मन ! ''मैं सब प्राणियों के हृदय में स्थित सबका आदि, मध्य तथा अन्त हूँ ।'' वह जैसे सब में है उसी तरह आप में भी है । आप इस आत्मा का साक्षात् कर रहे हैं तो भगवान का ही साक्षात् करते हैं ।

आत्म साक्षात्कार सर्वोच्च सिद्धि है । एक बार इस सिद्धि की प्राप्त होने पर तथा सत्य का अनुभव होने पर आप अज्ञान मार्ग के प्रति आकृष्ट नहीं होंगे ।

लोगों में यह बात प्रसिद्ध है कि चमत्कार को नमस्कार । जैसे कोई व्यक्ति पानी पर चलकर दिखादे, अपने आसन को प्राणायाम शक्ति द्वारा हलका कर पृथ्वी से एक फिट् ऊपर उठादे, मन की बात बतादे, मिट्टी को स्वर्ण वना दिखादे तो उसे आश्चर्य मान चर्चा करते हैं एवं उसपर श्रद्धा करते हैं । किन्तु अज्ञानी लोग एक वीर्य बिन्दु से मनुष्याकार होते देखकर भी परमात्मा का आश्चर्य नहीं मानते। एक छोटा सा बीज से महान् वट वृक्ष उत्पन्न होता देख भी अज्ञानी इसे चमत्कार नहीं देखता । सूर्य के दर्शन को चमत्कार नहीं देखता जो सारे विश्व को आलोकित करता है ।

नारद को दुनियाँ की समस्त सिद्धियाँ प्राप्त थी किन्तु शान्ति नहीं । तब सनत्कुमार से प्रार्थना की कि हे प्रभो ! मैं समस्त शास्त्रों

का ज्ञाता हूँ एवं समस्त सिद्धियाँ प्राप्तकर चुका हूँ पर मुझे शान्ति नहीं कृपया आप मुझे शान्ति का मार्ग बतलावें तब उसे उत्तर में कहा –

'**तरति शोकं आत्मवित्**' तू मन्त्र वेता एवं सिद्ध तो है । परन्तु बिना आत्मा को जाने शोक के सागर से पार नहीं हो सकेगा । सिद्धियाँ आत्म ज्ञान का साधन नहीं है, अपितु बाधक है ।

जो आत्म ज्ञानी है उसके लिये सिद्धियों का कोई मूल्य नहीं । मोक्ष मार्ग में मुमुक्षु के लिये सिद्धि विघ्न है । मुमुक्षु सिद्धि में रुचि रखेगा तो उसका संसार बन्धन और भी दृढ़ होगा । अणिमा गरिमा आदि सिद्धियाँ मूढ मन की कल्पनाएँ है । मनुष्य को ज्ञान की अभीप्सा रखनी चाहिये । बन्धन रूप सिद्धि मार्ग से दूर रहे ।

द्रष्टा, दृश्य, दर्शन सब एक आत्मा है । आत्मा को छोड़ कोई न देख सकता है, न सुन सकता है, न उठ चल सकता है । श्रोता या कर्ता के बिना कोई देखना, सुनना सम्भव नहीं । यह सब मनकी क्रियाएँ है । सिद्धि भी विकारी मन में है । सिद्धियाँ आत्मा का स्वभाव नहीं है । जो वस्तु आती जाती है, वह मन का सर्जन एवं विसर्जन है । आनन्द नित्य प्राप्त आत्मा का स्वभाव होने से आनन्द आता–जाता नहीं ।

अनुभव जब तक शाश्वत न हो तब तक जीव का सच्चा कल्याण नहीं होगा । क्या ध्यान में दिखाई पड़ने वाले देवी–देवता, इष्ट, नाद, ज्योति, रस का दर्शन शाश्वत है ? नहीं । वह क्षणिक दर्शन अनुभव भ्रामक है । सभी दर्शन हेतु द्रष्टा होना आवश्यक है । दृश्य तो आया और गया, किन्तु द्रष्टा ही शाश्वत रहता है । द्रष्टा आत्मा का सीधा निरपेक्ष अनुभव है । द्रष्टा ही प्रत्यक्ष है । स्वर्ग, बैकुण्ठ, कैलाश, शंकर, राम, कृष्ण, दुर्गा, हनुमान है या नहीं, थे या नहीं इनमें सन्देह हो सकता है । किन्तु आप इस समय यहाँ हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

यदि साधक आत्मानुभव करले तो वह इन सब लोकों को अपने आत्मा में देख सकता है क्योंकि अखण्ड आत्मा में यह जगत पुष्प माला में सूत्र की तरह पिरोया हुआ है । आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है ।

मतः परतरं नान्यत्किचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।। ७।७ : गीता

मन के समक्ष उसे पसन्द आने वाली वस्तु रक्खी जायें तो उसे आनन्द होता है । यह आनन्द नित्य आत्मा का ही सहज स्वभाव है । आनन्द स्वरूप आत्मा हमसे भिन्न, दूरस्थ पदार्थ या व्यक्ति में नहीं है । ऐसे विषयानन्दानुभूति के प्रसंगों के समय आप निज–आनन्द आत्मा में ही डुबकी लगाते हैं । लेकिन अज्ञानता के कारण इस आनन्द का आरोप दूसरी वस्तुओं या घटनाओं पर किया जाता है । जैसे नाना नाम वाली मिठाईयों में चीनी की ही मधुरता रहती है पर अज्ञानता के कारण उस चीनी की मधुरता को अन्य पदार्थ के नाम से ग्रहण किया जाता है । जबकि वस्तुतः आनन्द आप है, आप में है । आप आनन्द मात्र है तथा एक अद्वितीय सत्य स्वरूप आत्मा से अभिन्न है । ऐसे निश्चय के साथ आत्मा में निमज्जन करें, तो उसे आत्म साक्षात्कार कहते हैं ।

जो आत्म अनुसन्धान के प्रति आकृष्ट नहीं है, उन अज्ञानियों के लिये जीवन का नियमन, निश्चित समय पर सोना, जागना, स्नान, जप, मंत्र करना तथा धार्मिक विधि करना उन लोगों के लिये आवश्यक है ।

आत्मा होने के नाते मनुष्य सदा मुक्त है फिर किसी को भी किसी कल्पना का ध्यान करने की क्या जरूरत ? आपको केवल निर्विचार रहना है ।

यदि किसी इच्छा को तृप्त करने से उस इच्छा से मुक्ति मिल जाती है, तो उसे तृप्त करने में कोई हानि नहीं है । इसलिये सामान्य

नियम यह है कि जो इच्छाएँ मन में संस्कार निर्माण द्वारा नई इच्छाओं को जन्म नहीं देती उन्हें तृप्त करने में कर्ता की कोई हानि नहीं है ।

सब आध्यात्मिक चर्चाएं निष्फल है, जब तक वे हमें अपने भीतर सत्य रूप में अवस्थित आत्मा को जानने की गवेषणा के लिये प्रेरित न करे ।

लोग प्रथम ''मैं कौन हूँ'' के सत्य को जानने के प्रयत्न के बदले अपने से बाहर रहे हुए मिथ्या पदार्थों को जानने का यत्न करता है । किन्तु स्वयं आनन्द स्वरूप निज आत्मा को जानने से ही वास्तविक आनन्द प्राप्त हो सकता है ।

वेद का लक्ष्य अविनाशी आत्मा के स्वरूप का उपदेश करना है एवं हमें यह सिखाना है कि 'हम वही है' ।'I am that I am.' अज्ञात वाद, दृष्टि सृष्टि वाद, सृष्टि दृष्टि वाद आदि विषय को हमें गंभीरता से नहीं पकड़ना चाहिये, क्योंकि यह सब कल्पनाएं भिन्न–भिन्न मतावलम्बियों द्वारा की गई है । क्योंकि इनकी चर्चा केवल बौद्धिक कुतुहल को शान्त करने के लिये की जाती है । जब तक आप दिखावे को सत्य मानते हैं तब तक आप अपने को सत्य नहीं जान सकेंगे ।

ईश्वर सत्य होता तो वह नींद में भी प्रकट होकर अपना प्रभाव क्यों नहीं दिखाता ? आप हमेशा है, ईश्वर की कल्पना से भी प्रथम हैं । नींद में जैसे आनन्द स्वरूप थे, उससे भिन्न आप जाग्रत में नहीं है ।

आत्मा की दृष्टि में जन्म–मरण, स्वर्ग–नरक, बन्ध–मोक्ष, सुख–दुःख तथा शोक–मोह नहीं है । शरीर से तादात्म्य समाप्त हो जाने पर मृत्यु और पुनर्जन्म की समस्त धारणाएँ समाप्त हो जाती है । जन्म व मृत्यु का सम्बन्ध शरीर से है । आप आत्मा का सम्बन्ध शरीर के साथ तादात्म्य करने से है । आप मानते हैं कि शरीर का जन्म हुआ था और वह मरेगा भी । अज्ञानी शरीर से सम्बन्धित इन घटनाओं का गलती से

आत्मा में आरोपण करते हैं । अपनी वास्तविक सत्ता को जानिये एवं परेशानी से मुक्त हो जाइये ।

मरने के बाद जीव का क्या होता है यह प्रश्न मृतक को ही पूछना चाहिये । जीवित व्यक्ति का यह प्रश्न नहीं होना चाहिये । देह धारी जीव को तो इस समय किसी सद्गुरु से अपने आत्मानुसंधान की बात पूछना चाहिये कि 'वह कौन है ?' जब वह अपने सत्य स्वरूप को जानेगा तभी यह व्यर्थ के प्रश्न समाप्त होंगे ।

यह ढूंढ निकालिये कि किसका जन्म हुआ है ? और कौन वर्तमान में अस्तित्व से परेशान हो रहा है ? गहरी नींद में भी आप वहाँ थे क्या ? क्या वहाँ भी यह प्रश्न आपके मन में पुनर्जन्म का हो रहा था ? इसलिये खोज निकालिये कि वर्तमान में ये सब प्रश्न कहाँ से उत्पन्न हो रहे हैं और किसको हो रहे हैं ? उसी जगह आपको पूरा समाधान मिल जायगा । जब तक देहभाव पूरा आत्मा में लीन नहीं होता तब तक यह पुनर्जन्म का सिल सिला चलता रहेगा ।

यद्यपि चैतन्य स्वभाव से अविनाशी है, फिर भी नश्वर शरीर के साथ गलत तादात्म्य करने के कारण उसे अपने नाश का मिथ्या भय लगता है । इस गलत तादात्म्य के कारण वह शरीर को बनाये रखने का प्रयत्न करता है एवं मृत्यु भय से डरता रहता है ।

जब तक व्यक्तित्व रहता है तभी तक विश्व के विविध कार्यों का संचालन–नियन्त्रण करने वाला है । लेकिन व्यक्तित्व के अभाव में ईश्वर का व्यक्तित्व भी समाप्त हो जाता है । ईश्वर व विश्व का निर्णय करने से पहले जीव को अपने सच्चे स्वरूप को जानना चाहिये ।

यदि ईश्वर आत्मा से भिन्न होगा तो वह आनात्मा हो जावेगा, जो सिद्धान्त के विपरीत बात है । अभी आप सोचते हैं कि आपके बाहर एक विश्व है और विश्व से परे ईश्वर है । इस प्रकार विचार भेद का है । वह अवश्य मन से निकलना चाहिये । क्योंकि ईश्वर अखण्ड सत्ता

होने से आपसे एवं विश्व से भिन्न नहीं है । सभी प्राणियों का वह आधार है, सबके आदि, मध्य तथा अन्त भी वही है । सब प्राणी उसी से उत्पन्न होते हैं, उसी में निवास करते हैं और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं, इस प्रकार वह किसीसे एवं अन्य उससे कोई भिन्न नहीं है ।

सत्य यह है कि यहाँ एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, उसकी अखण्डता नित्य होने से वह देश, काल से अविभाजित नहीं हो सकता । वह नित्य अनुभव गोचर है । 'मैं हूँ' यह ईश्वर का नाम है । ''मैं हूँ वह मैं हूँ'' यह श्रेष्ठ नाम है । दूसरे भी अहं ब्रह्मास्मि, ब्रह्मैवाहम्, सोऽहम् जैसे विधान हैं लेकिन इनमें कोई भी ''याहो वाह'' नामक जैसा सीधा स्पष्ट नाम नहीं है । जिसका अर्थ ''मैं हूँ'' होता है । पूर्ण सत्ता वह है जो सदा ''है'', नित्य है, वह आत्मा है, वह ईश्वर है । आत्मा को जानलेने पर ईश्वर को जान लिया जाता है क्योंकि आत्मा से भिन्न ईश्वर नहीं है ।

विश्वास अनदेखी अज्ञान वस्तु के प्रति होता है, लेकिन आत्मा नित्य ज्ञान एवं स्वयं सिद्ध है । चाहे कोई कितना दृढ देह निष्ठावान मानने वाले हो किन्तु अपने अस्तित्व का इन्कार नहीं कर सकता । अर्थात् आत्मा का निषेध नहीं कर सकता । जैसे प्रकाश होने पर भी घर में या बाहर भले ही हम अपने को न देख सके, फिर भी अपने होने के अस्तित्व का ज्ञान तो बना ही रहता है कि मैं हूँ । किसी के भी स्वीकार या अस्वीकार में स्वयं ज्ञाता की उपस्थिति तो बनी ही रहती है ।

आत्मा का अखण्ड आनन्द हमेशा आपके साथ है, यदि आप आत्मा का निष्ठा से अन्वेषण करें, तो अवश्य प्राप्त होगा । आपके दुःखों का कारण आपके बाह्य जीवन में नहीं है । वह दुःख आपके अन्दर अहंकार के रूप मौजूद है । आप अपने ऊपर स्वयं देह संघात्

के धर्मों को स्वीकार करते हैं और उनसे दूर होने का व्यर्थ परिश्रम करते हैं ।

आप का वस्तुतः आत्मा बने रहना ही उस अखण्ड आनन्द को प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है, जो हमेशा आपका है । यदि जीव सुख रूप अपने आत्मा का विवेक करे तो उसके जीवन में थोड़ा भी दुःख नहीं रहेगा । जीव दुःखी इसलिये होता है कि वह अनात्मा शरीर को मैं मानता है । इस भ्रम से सभी दुःख उत्पन्न होते हैं ।

देह कर्म फल भोग एवं नूतन कर्म का स्थान है । कोई भी देहधारी वह ज्ञानी हो या अज्ञानी विना कर्म किये एक क्षण भी नहीं रह सकता । आपको समाज सेवा करना चाहिये किन्तु 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिये । प्रत्युत ईश्वर के कर्मों का निमित्त मात्र हूँ, ऐसा सोचकर कर्म करना चाहिये । ऐसा भी नहीं सोचना चाहिये कि मैं अपने से निम्न स्तर के लोगों की सहायता कर रहा हूँ । इस तरह से अपने प्रति ऊंचा भाव एवं जिनके लिये सेवा की है उनके प्रति नीचा भाव लाना बन्धन का ही हेतु है । आपको उस पुरुष में अपने में छिपे हुए भगवान की सेवा करने का सौभाग्य मिला है । ऐसी सेवा अपनी आत्मा की ही सेवा है, किसी अन्य की सेवा नहीं । इसलिये ऐसी सेवा कर अहंकार भी नहीं होगा ।

यह 'मैं कर रहा हूँ' इस भाव से नहीं बल्कि 'ईश्वर मुझे इस सेवा का निमित्त बना रहे हैं, वह कर्ता है, मैं साधन हूँ' ऐसे भाव से जो सेवा कर रहे है, वे बन्धन को प्राप्त नहीं होते हैं ।

अनुशासन के नियम कुछ सीमा तक सहायक है, अतः उसका स्वीकार करना चाहिये । लेकिन यदि वे सत्य प्राप्ति के अभ्यास रूप अनुसंधान में अवरोध बनें, जैसे कोई माता, पिता अथवा पति मांस मछली खाने के लिये आज्ञा करे या सत्संग में जाने को मना करे तो फिर वहाँ उनको अपर्याप्त जानकर तुरन्त छोड़ देना चाहिये ।

यदि जीव अन्तर्मुख होकर अकर्ता–अभोक्ता आत्मा के ज्ञान को प्राप्त कर मुक्त हो जावे, तो फिर कर्म फल भोगने वाला कोई नहीं रहेगा ।

आप पौधे की अनिच्छित शाखाओं को काटते जायेंगे वह पौधा उतनी ही शक्ति से बढ़ता चला जायगा। इसी प्रकार आप अपने कर्मों में जितना भी सुधार करें वे अधिकाधिक संचित होते जाते है । कर्मों के मूल कर्ता भाव अहंकार को काट दीजिये तो सभी संचित, प्रारब्ध, आगामी कर्म नष्ट हो जावेंगे ।

जब मैं कर्ता नहीं, ऐसा दृढ बोध हो गया तब वह कर्म मनुष्य को कुछ भी प्रभावित नहीं करता । लेकिन मनुष्य जब तक आत्मसाक्षात्कार नहीं करता है तब तक मैं कर्ता हूँ यह कर्तृत्वाभिमान भी दूर नहीं होता है । जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, उसे जप, तप, पूजा, पाठ ध्यानादि साधन करने की भी क्या आवश्यकता है ?

यदि आप शरीर नहीं है और आप कर्ता नहीं है ऐसा दृढ बोध हो जाय, तो फिर आपके अच्छे बुरे कर्मों का प्रभाव आप पर नहीं पड़ेगा । शरीर द्वारा जिन कर्मों को किया जाता है उनको 'मैं करता हूँ' 'मैंने यह किया', 'मैंने वह किया' ऐसा आप क्यों सोचते हैं ? प्रकृति के कार्य को अपना मानना अज्ञान है एवं बन्धन का कारण है । जब तक आप इस प्रकार अपने आपको शरीर से एकता करते हैं, तब तक आप पर आपके कर्मों का प्रभाव पड़ता है तब तक आप अच्छे बुरे कर्मों को संचय करते रहते हैं ।

यदि कोई वस्तु आप को प्रारब्धवश मिले तो उसके लिये आप असहाय है । यदि इस प्रकार प्रारब्ध से आई वस्तुको आप पूर्ण अनासक्त भाव से ग्रहण करें व भविष्य में और भी मुझे मिले ऐसी वृत्ति नहीं उठे तो फिर वह पुनर्जन्म नहीं दिला सकेगी ।

अगर आप परमात्मा को अपने से भिन्न जान यह व वह माँगते रहे, तो वह पूर्ण शरणागति नहीं है ।

सर्व प्रथम साधक को अपने आत्म स्वरूप को पहचानना चाहिये और बाद में जगत् को आत्म स्वरूप देखना चाहिये । यदि आप स्वयं को देह मानते हैं तो जगत बाहर दिखता है, लेकिन यदि आप आत्मा हैं तो जगत् ब्रह्मरूप दिखेगा ।

यदि कोई यह सत्य सिद्धान्त जानता है कि मैं जो कुछ दूसरों को देता हूँ वह वस्तुतः स्वयं को ही देता हूँ । तो फिर कौन दूसरों को अच्छे से अच्छा देने की, सद्गुणी बनने की इच्छा नहीं करेगा ? चूँकि प्रत्येक प्राणी अपनी आत्मा है, कोई भी, किसी के प्रति जो कुछ भी करता है वह केवल अपने आपके प्रति किया जा रहा है ।

पहले अपने आपको अपना आत्मा देखना चाहिये और बाद में जगत् को आत्म रूप देखना चाहिये । यदि आप स्वयं को देह मानते हैं, तो फिर जगत् बाहर दिखता है, लेकिन यदि आप आत्मा है तो फिर जगत् ब्रह्म रूप दिखेगा । '**जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि**' ।

मैं आत्मा स्वभाव से नित्य मुक्त हूँ। मैं आत्मा साक्षी हूँ, ऐसा अपने हृदय में दृढ़ ज्ञान हो जाना चाहिये । मुझे बन्धन ही नहीं तब मुक्ति की इच्छा क्यों करूँ ? मैं स्वयं नित्य मुक्त साक्षी आत्मा हूँ । मुक्ति किसी लोक, मठ, मन्दिर, तीर्थ नदी में नहीं है । परन्तु जो अज्ञानी देह, इन्द्रिय, मनादि के धर्म सुख–दुःख, राग–द्वेष, जन्म–मरण आदि धर्मों को अपना मानने की भूल धारणा किये हुए है, उनके अहंकार को तोड़ने के लिये, उनकी मिथ्या मान्यता को निकालने के लिये उन्हें परिश्रम करना होगा । मैं समस्त देह संघात् से असंग हूँ तथा यह सब एक ब्रह्म मात्र है, ऐसा निश्चय हो जाना ही वास्तविक मुक्ति है । आदि अन्त से रहित स्वयं प्रकाश ऐसा जो परम पद है, वह तुम स्वयं हो । परम पद से तुम कभी दूर थे नहीं, हुए नहीं, हो सकते

नहीं । 'सर्व ब्रह्म है' ऐसी भावना रखकर जीवन व्यवहार करने से बन्धन नहीं है । कर्ता भाव ही बन्धन देने वाला है, कर्म किसी प्रकार का हो किन्तु वह बन्धन रूप नहीं होता है । कर्ता भाव के बिना कर्म निष्प्राण हो जाते हैं। कर्म में कर्ता भाव जुड़ जाने से, वे सप्राण होकर बन्धन कारक हो जाते हैं ।

जब तक अन्तःकरण है तभी तक साक्षी भाव है परन्तु जब अन्तःकरण का अभाव हो जाता है तब साक्षी भाव भी नहीं रहता है । जब साक्ष्य पदार्थ ही नहीं, तो साक्षी किसका बने ? जैसे गहरी नींद में साक्ष्य–साक्षी नहीं रहते हैं ।

सुबह उठते ही पूछिये कि कौन जाग्रत हुआ है ? प्रथम मन उठा और उसने शरीर को उठाया । मैं साक्षी मन व शरीर की क्रियाओं को देखता रहता हूँ ।

आत्म दृष्टि से देखने पर सब एक आत्मा ही अनुभव गोचर होता है । जैसे बरफ, लहर, फेन, भाप, सब एक जल रूप ही है । इसी तरह अखिल ब्रह्माण्ड में जड़–चेतन एक ही ब्रह्म के अनेक रूप है । इसमें बढ़ना–घटना, छोटा–बड़ा, ऊँच–नीच का भेद नहीं । '**ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं**' । जैसे चूड़ी, कड़ा, चैन, कंगन आदि अलंकार के नाम, रूप है परन्तु स्वर्ण तो एक ही है । इसी दृष्टि से अनुभव करे तो जन्म–मरण, मनुष्य, पशु, पक्षी, जड़–चेतन, मेरापना–तेरापना कुछ भेद नहीं दिखता, सबका वास्तविक स्वरूप तो एक साक्षी पना ही है । यही साक्षीतत्त्व संकल्प–विकल्प करने से मन एवं निश्चय करने से बुद्धि, चिन्तन करने से चित्त तथा अभिमान करने से अहंकार कहलाता है । जैसे समुद्र में ऊँची–नीची, छोटी–बड़ी लहरे जल ही हैं ।

जब तक मन की प्रथक सत्ता मानकर चलेंगे तब तक भेद दृष्टि नहीं मिटती है । जब जानलेते हैं कि मन मुझ आत्म स्वरूप की लहर मात्र मुझसे भिन्न नहीं है तब सब मन कृत भेद भाव मिट जाते हैं । मेरा

सच्चा स्वरूप एक साक्षी पना है । मुझे भय कहाँ, राग–द्वेष कहाँ ? सुख–दुःख कहाँ ? मैं तो परम ब्रह्म, आत्मा, एकरस, अखण्डाकार ज्यों का त्यों ही हूँ, इस भाव को सदा दृढ़ करते रहना चाहिये । जैसा मेरा स्वरूप है वैसे अखिल ब्रह्माण्डों का है राजा–प्रजा, गरीब–धनी, रोगी–भोगी, दुःखी–सुखी, दानी–भिखारी, पुण्यवान्–पापी, गुरु–शिष्य यह सभी मेरे ही बदले हुए रूप है ।

ज्ञानी का ज्ञानी पना, योगी का योगी पना, भक्तों का भक्त पना सब मेरी चेतना से है । सब मुझे ही खोज रहे हैं – चाहे कर्मी हो, चाहे भक्त हो, चाहे योगी हो, चाहे ज्ञानी हो, चाहे अज्ञानी हो, चाहे पशु–पक्षी हो यह विभिन्न रूप, विभिन्न मार्गों द्वारा समस्त दुःखों से छुटकारा एवं अखण्डानन्द की प्राप्ति ही चाह रहे हैं । किन्तु जो इस साढ़े तीन हाथ के शरीर के साथ बंध गये हैं उन देहाभिमानियों को, देह संघात् में तादात्म्य बुद्धि रखने वालों को कभी सच्ची शान्ति मिलती नहीं ।

देह से हम सदा भिन्न है इसलिये देह भाव मन में रख कोई व्यवहार नहीं करना चाहिये । कर्म बन्धन रूप कभी नहीं होता है । हाँ कर्म में 'मैं कर्ता हूँ' यह कर्ता भाव ही बन्धन रूप होता है । देह तो सद्गुरु कृपा से प्राप्त ज्ञानाग्नि में भस्मीभूत हो गया है, अब भस्म पर क्या अहंकार करना ? मल त्याग करने के बाद उसके वजन, रंग एवं क्या–क्या अन्न, भाजि, सब्जी उसमें जा रहे है, यह क्या सोचने की जरूरत है ?

जब तक जीव ने अपने वास्तविक ब्रह्म स्वरूप को नहीं जाना था तभी तक मन के दुःख–सुख को अपना मानता था । मन के अनुकूल होने से अपने को सुखी जानता था एवं प्रतिकूल होने पर अपने को दुःखी मानता था । किन्तु अब मैं जड़ शरीर एवं चेतन जीव से पृथक् हूँ, मैं मन वाणी से अगोचर हूँ, ऐसा जानने पर किसी भी अनुकूल

प्रतिकूल परिस्थिति के होने पर भी उसके लिये मन सुखी–दुःखी नहीं होता है ।

बचपन से जीव को देहाध्यास हो जाने से, मन में देह को मैं मानने का दृढ़ अभ्यास हो गया है । इस देहाध्यास को मिटाने के लिये ही जीव को जो परिश्रम करना पड़ता है, वही इसका तप है ।

अपने साक्षी स्वरूप को भूल देह में मैं भाव एवं देह सम्बन्धित पदार्थों में मेरा भाव कर ही जीव स्वरूप से च्यूत हो जाता है, फिर भी साक्षी भाव तो सदा रहता है । द्रष्टा भाव भूल जाने पर भी साक्षी भाव चैतन्य भाव तो बना ही रहता है, वह नित्य है । जीव को इस देहाध्यास को हटाने के लिये बारम्बार अभ्यास करते रहना चाहिये, यही तपश्चर्या है । इसे छोड़ने के लिये ही योग, भक्ति, कर्म, ध्यान, तप है । यह मिथ्या देहाध्यास इन साधन द्वारा दूर न हो तो फिर यह सब साधन व्यर्थ ही है ।

जब तक अहंकार उत्पन्न नहीं होता, वहाँ तक कोई भी क्रिया, कर्म संज्ञा में नहीं आती, वह कर्म निर्बीज हो जाता है, जैसे अग्नि में पकाया बीज पुनः अंकुरित नहीं होता है । इसी तरह ज्ञानी के कर्म निर्बीज हो जाते है । आत्म भाव में स्थिति करने से सब कर्म दग्ध हो जाते है ।

'**एकोऽहम् बहुस्याम**' परमात्मा ने पूर्व सृष्टि के जीवों के संचित कर्म फलित देख उन जीवों को उनके किये संचित् कर्मों का भोग कराने हेतु संकल्प किया कि 'मैं एक हूँ अब अनेक हो जाउँ' उस व्यापक परमात्मा में से ही मैं उत्पन्न हुआ हूँ । इसलिये उससे भिन्न नहीं बल्कि 'वही मैं हूँ ' । यदि ऐसा विवेक दृढ हो जावे तो फिर कुछ करना ही बाकी नहीं रहता है क्योंकि कोई भी कारण से उसका कार्य भिन्न नहीं होता है । अब उसे खोजना या पुकारना, जप, माला करना मूर्खता ही होगी । जैसे हमारे बिलकुल समीप जो व्यक्ति बैठा है, उसे जोर से

पुकारना अज्ञान ही कहलावेगा । वह कहेगा अरे भाई ! तू क्या अन्धा है ? मैं तो तेरे सम्मुख बैठा हूँ, फिर इतनी जोर–जोर से चिल्लाने, पुकारने की क्या जरूरत ? इसी प्रकार परमात्मा अपने हृदय मन्दिर मैं बैठा है और हम उसे दूर–दूर नदी, पर्वत, ग्राम, जंगल में खोज रहे है । लाउड स्पीकर लगा कीर्तन, भजन, अखण्ड जप से पुकारता देख परमात्मा भी हमारे क्रिया कलाप पर अवश्य हसेंगे ।

साधक का परमात्मा के सम्बन्ध में किया हुआ साधन परमात्मा के प्रति अप्राप्ति अथवा दूरी का भ्रम पैदा करता है । अतः 'मैं परमात्मा हूँ' ऐसा दृढ़ निश्चय करके देहाकार वृति को हटाकर मन को मिनट, आधा मिनट इसी चिन्तन में रोकना चाहिये । २४ घंटे में एक–डेड़ घन्टा मन इस क्रिया में रूकने लग गया तो फिर अभ्यास बढते बढते २४ घंटे यह भावना में मन रहेगा । फिर अन्त समय में सुख से प्राण निकलेंगे एवं परमात्मा में व्यष्टि चेतन नदी सागर मिलन की तरह एक हो जावेंगा ।

जैसे किसी ने अभ्यासकर तैरना, साइकिल चलाना सीख लिया तो बरसो बाद भी उसे पानी में जाना हो तो वह डूब नहीं सकेगा पहले के अभ्यास से वह नदी या तालाब पार कर लेगा । इसी तरह मन सोऽहम् चिन्तन से; संसार सागर से सुख पूर्वक पार हो जाता है तथा परब्रह्म की ज्योति में समा जाता है ।

इस प्रकार प्रत्येक मुमुक्षु को प्रतिदिन एक घंटा संसार चिन्तन छोड़ आत्म चिन्तन का अभ्यास करना चाहिये । विचारना चाहिये कि रात्रि नींद के समय शरीर के हाथ, पैर अचल हो बिस्तर पर पड़ा रहता है, आँख मुख बंद रहते हैं तथा शयन कक्ष में घोर अन्धकार भी रहता है, फिर भी यह जीव स्वप्नावस्था में बिना शरीर देखता, सुनता, बोलता, चलता, दौड़ता, पकड़ता है वहाँ बिना कान सुनता है, बिना जीभ बोलता है, बिना आँख देखता है, बिना पैर चलता है, नाक बिना

सुंघता है, हाथ बिना पकड़ता है, वहाँ यह जीव सुख दुःख का अनुभव करता है । वहाँ सर्वत्र सर्वरूप में स्वयं जीव अकेला ही रहता है ।

मृत्यु समय भी यही निद्रा अवस्था होती हैं । उस समय भी सभी इन्द्रिय द्वार बन्द हो जाते हैं । जैसा निद्रावस्था में यह सुख पूर्वक रहता है ऐसा मृत्यु समय भी आनन्द में रहता है । जिन लोगों ने जीवित अवस्था में देह में अहंता और सम्बन्धियों से ममता का त्याग नहीं किया एवं आत्म निश्चय दृढ़ नहीं किया, उन देहासक्त लोगों को मृत्यु के क्षण में अपने देह व देहसम्बन्धियों से, धन सम्पति से अलग होने के कारण वियोग का दुःख लगता है । जीव तो अविनाशी है, उसका ईश्वर से अंशी–अंश भाव का सम्बन्ध होने से, सच्चिदानन्द स्वरूप है । अज्ञानता से देह को मैं मान दुःखी होता है एवं अविनाशी अजन्मा होकर भी मृत्यु भय करता है । जीव यह भूल जाता है कि मेरी सत्ता से ही समस्त देह संघात् अपना अपना कार्य करते हैं । समस्त मैं–मेरा संसार जीव से ही उत्पन्न होता है और नींद के झोके में समाप्त हो जाता है । जीवात्मा इन उत्पत्ति–नाश दोनों अवस्था का साक्षी मात्र है । जीव ब्रह्म स्वरूप होने से निरंजन, निराकार, निर्विकार, निर्भय, अजन्मा, अविनाशी, सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान, सर्वग्य, सर्व शक्तिमान, सत–चित–आनन्द स्वरूप है । ज्ञानी तो जन्म–मरण को इस प्रकार जानता है जैसे कि लहर उठी एवं समुद्र में समागई, वह केवल जल ही है । इसी प्रकार जीव ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही लीन हो रहा है ।

आप साक्षात् परब्रह्म हैं । वास्तव में तो आप शब्दातीत, अनुपमेय तथा मन वाणी से अगोचर है । साक्षात् सरस्वती भी गुण गान लिखना चाहे तो नहीं लिख सकती। वेद भी आपकी महिमा कहने में संकुचाता है । ज्ञानी, योगी, भक्त तथा कर्मी आपकी ही महिमा गाते हैं, भक्ति करते हैं, कामना पूर्ति चाहते हैं, वे भी साधन कर प्राप्त नहीं कर सकते ।

जब कोई क्रिया करें तो अपने आप से पूछे कि क्रिया कराने वाला कौन है ? 'मैं कौन हूँ ?' आप साक्षात् तो हैं ही किन्तु देह भाव, कर्ता भाव के कारण अपना साक्षात् साक्षी स्वरूप भूल जाते हैं । अतः बीच–बीच में ''मैं कौन हूँ'' इस प्रकार पूछते रहने से याद आ जावेगा कि 'मैं कर्म का न तो कर्ता हूँ और न मैं भोक्ता हूँ' । यह दृश्य मन ही कर्ता एवं वही इस कर्म फल का भोक्ता है । मैं इस मन की इच्छा, देह, इन्द्रिय के द्वारा हो रही क्रिया तथा मन के द्वारा हो रहे भोग का साक्षी मात्र हूँ ।

मुझ में राग–द्वेष, सुख–दुःख, भूख–प्यास, बन्ध–मोक्ष, जन्म–मरण नहीं है किन्तु बहुत काल से देहाध्यास होने के कारण मन इधर–उधर हो रही है । कहाँ जाउँ, किसके पास जाउँ, क्या ध्यान करूँ, क्या जप करूँ, क्या दान करूँ, क्या पढ़ूँ, किसका उपदेश सुनु व किसे उपदेश करूँ ? इस प्रकार मन में उथल पुथल चलती रहती है ।

जीव शान्ति खोजने जाता है । इसलिए साधन करता है तो उल्टा प्राप्त शान्ति को ही खो देता है । साधु होकर कपड़े, घर, नाम, गांव बदलने से कुछ होने वाला नहीं है ।

जैसे दीपक अपने प्रकाश से सब दृश्य को प्रकाशित करता रहता है तथा सबके अभाव को भी प्रकाशित करता रहता है, इसी प्रकार तुम्हारे ज्ञान प्रकाश से समस्त दृश्य प्रकाशित होता है एवं सब के अभाव को तथा स्वयं को भी प्रकाशित करते रहते हैं ।

गुरु कृपा से जाना कि जिसे पाना है, जिसके लिये यहाँ–वहाँ दौड़ रहा था वह तो मैं स्वयं ही हूँ । ओह ! कैसा मैं आनन्दघन हूँ ! आनन्द पाना यह तो अन्तःकरण का धर्म है । मैं मिठाई नहीं मिश्री हूँ । इसी तरह में आनन्दमय नहीं, आनन्दघन आत्मा हूँ ।

तुम न अपने को ज्ञानी जानो न अज्ञानी, यह तो अन्तःकरण का धर्म है । तुम तो इनसे परे हो। तुम तो ज्ञान–अज्ञान से प्रथक नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा हो ।

सुबह उठते समय विचार करो कि तुम कौन हो ? शरीर एक मुर्दा है । उसे प्राण ने जगाया है । प्राण द्वारा उसके हाथ पैर हिलते हैं । उसे नहलाया जाता हैं, कपड़े पहनाये जाते हैं, खाना खिलाया जाता है और पानी पिलाया जाता है ।

किसी प्रकार का अहंकार मत रखो कि मैं ज्ञानी हूँ, त्यागी हूँ, संन्यासी हूँ, इन्जीनीयर, डाक्टर, मजिस्ट्रेट, मंत्री, कलेक्टर इत्यादि हूँ । इन सब उपाधियों को भूल जाओ और केवल एक बात नित्य स्मृति में रखो कि, मैं केवल आत्मा हूँ ।

शरीर जन्मता है एवं मरता है । इसी में अहंकार करना ही अज्ञान कहलाता है । तुम साक्षी रूप हो, इससे दृढ निश्चय करो । इसी निश्चय में सभी साधनाएं, क्रियाएं, भक्ति, योग, तपस्या आ जाती है । यह सुत्र सभी साधना का एवं वेद शास्त्र का उपदेश है कि तुम साक्षी रूप अखण्ड, चैतन्य, सर्वव्यापक हो । शरीर तो जड़, शव रूप है ।

'यह शरीर मैं हूँ' इसका मन से त्याग करो । शरीर मल एवं अधम है । इसका मैं रूप में कभी स्वीकार नहीं करो । कर्म में मैंने किया, मैं करूँगा इस प्रकार अहं भाव कभी मत करो । यह सब मन का खेल है । तुम तो जो हो वही सबके साक्षी ही हो । तुम में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं । अलंकार सभी स्वर्ण है । शक्कर के खिलोने सब शक्कर ही है । मिट्टी के बर्तन, ईंट, मटकी, गणेश, दुर्गा, मनुष्य, गधा, कुत्ता सब मिट्टी ही है । प्रगति, कान्ति, राग–द्वेष, सुख–दुःख मन के है परन्तु तुम्हारी कोई प्रगति क्या होगा ? तुम तो एकरस आत्मा हो । ध्येय तो तुम स्वयं हो अब किस ध्येय को प्राप्त करने के

लिये साधन करोगे ? अतः वह मैं ही हूँ (सोऽहम्) अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ ऐसा निश्चय करो । मैं ही सच्चिदानन्द रूप में सर्वत्र विद्यमान हूँ ।

परमानन्द, परमात्मा सर्वत्र, सर्वग्य एवं सर्वशक्तिमान है । वह हमारे ही हृदय मन्दिर में विराजमान है । आनन्द किसी बाह्य पदार्थ में नहीं है, जिसे हम प्राप्त कर आनन्द का अनुभव कर सके । मनोवृत्ति शान्त होने के निमित्त से आनन्द की झलक मन में मालूम पड़ती है । वृत्ति के पुनः चंचल होने से, वह प्राप्त क्षणिक आनन्द लीन हो जाता है । आनन्द स्वरूप परमात्मा का अज्ञान के कारण, मन के शान्त व चंचलता के कारण आनन्द आने–जाने वाला मालूम पड़ता है । ज्ञान होने पर प्राप्त परमात्मा की ही प्राप्ति होती है । कोई अप्राप्त परमात्मा की प्राप्ति हुई है ऐसा नहीं कहा जा सकता आत्मा सर्वव्यापक होने से उससे भिन्न कुछ भी नहीं है ।

आप जिसे खोज रहे हैं वह आप स्वयं ही हो, इसमें किञ्चित् भी अश्रद्धा नहीं करना । आप व ईश्वर कोई प्रथक तत्त्व नहीं है, एक अभिन्न तत्त्व है । पानी, नीर व जल की तरह ईश्वर, गुरु व आत्मा तीन नहीं एक ही तत्त्व के तीन नाम हैं । तुम जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, स्थूल, सूक्ष्म, कारण व महाकारण से भिन्न इसको प्रकाशित करने वाले, जानने वाले साक्षी आत्मा हो। सूर्य, चन्द्र, ग्रहादिकों को प्रकाशित करने वाले स्वयं प्रकाश आत्मा तुम ही हो । परन्तु अपने सनातन सत्य स्वरूप का बोध न होने के कारण ही इस विकारी स्थूल, सूक्ष्म शरीर को मैं रूप मानकर जीव बन्धन को प्राप्त हो रहा है ।

सत्य स्वरूप तो तुम ही हो, किन्तु तुम इसे ''मैं कौन हूँ'' इस रूप में खोज रहे हो । दृश्यादृश्य जो कुछ है वह सब तुम ही एकमात्र हो । जो कार्य रूप में प्रकट हो रहा है वह अपने कारण रूप में सदा ही लय को प्राप्त है । अलंकार स्वर्ण से भिन्न नहीं, स्वर्ण में ही विद्यमान है । जीव अज्ञान से उनके नाश का विचार कर शोक को प्राप्त होता है ।

विचारो तुम कौन हो ? जिसे तुम मेरी, मेरा, कहते हो वह कौन है ? जो कुछ दिखाई पड़ता है वह केवल चित्त के कारण । जब तक चित्त है तब तक जगत है । चित्त नहीं तो जगत् भी नहीं । जीव जगत् के पदार्थों व सम्बन्धों में सुख मानता है लेकिन दुःख को ही प्राप्त होता है । अनन्त सुख तो स्वरूप में सम्बन्धों वृत्ति स्थिर करने से ही अनुभव में आता है ।

सभी लोगों का यह प्रतिदिन का अनुभव है कि स्वप्न में मन ही संसार की रचना करता है । जाग्रत जगत् का किसी प्रकार का सामान बिना लिये यह मन स्वप्न में नदी, पर्वत, जंगल, पशु, पक्षी, बगीचा, खेत, शहर, नगर, व्यक्ति, सूर्य, चाँद बना लेता है । यह मन ही स्वप्न सृष्टि का ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर है । इसी तरह आत्म स्वरूप परमात्मा के द्वारा ही यह जाग्रत सृष्टि बनती है । स्वप्न में स्वप्न द्रष्टा के अतिरिक्त अन्य कोई जड़–चेतन तत्त्व नहीं है । स्वप्न द्रष्टा ही समस्त जड़–चेतन संसार बना हुआ है । इसी प्रकार यह जाग्रत दृश्य संसार भी मुझ आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं है । मुझ में और जगत में कुछ भी भिन्नता नहीं है । जैसे जल व बर्फ एक वस्तु के ही दो नाम है । मैं जो हूँ वह तू है, तू जो है वह मैं हूँ । इसी तरह मैं ही जगत् हूँ और जगत् ही मैं हूँ । इस प्रकार अभेद चिन्तन करने से दुःख नहीं लगेगा । दुःख का कारण कोई दूसरा मानने से है । ज्ञानी के लिये कोई दूसरा नहीं है । इसलिये उसे दुःख भी नहीं है ।

जैसे तुम्हारा घर, तुम्हारी मोटर कार, कुत्ता, जूता, चप्पल, सूट, साड़ी, अलंकार से तुम पृथक् हो, इस सबके देखने, जाननेवाले हो । इसी प्रकार तुम तुम्हारे हाथ, पैर, आँख, कान, दाँत, जीभ, बाल, नाखुन, मन, बुद्धि, जीव से अपने को पृथक् जानना सीखो । पृथक तो तुम हो ही जिसे तुम मेरा–मेरी कहते हो । मेरा–मेरी शब्द का प्रयोग हमेशा अपने से भिन्न के लिये ही किया जाता है । अतः उन

सभी वस्तु या व्यक्तियों में मैं भाव कभी न करो जिन्हें मेरा, मेरी या मेरे रूप में जानते हो । अपने देह, मन, बुद्धि का साक्षी रूप में अपने को जानो । जैसे सिनेमा, सर्कस, क्रिकेट खेल का दर्शक साक्षी रहता है इसी प्रकार अपने जीवन लीला का अपने को साक्षी जानो । दोही प्रकार का तत्त्व चिन्तन हो सकेगा । (१) विधि मार्ग (२) निषेध मार्ग । या तो मैं ही सर्व हूँ या सर्व नहीं 'मैं ही हूँ' । जैसे स्वप्न संसार कुछ नहीं है अथवा मैं ही एक मात्र सत्य हूँ ।

आनन्दानुभूति के लिये भेद भाव मिटाओ । जैसे अपने शरीर के किसी भी अंग का कष्ट दूर हो जाने से अपना ही सुख अनुभव में आता है । इसी प्रकार इस विराट् रूप जगत् में किसी भी प्राणी को सुख पहुँचाने से तुम को ही आनन्द मिलता है ऐसा अनुभव कर सकोगे । जब मैं तू का भेद भाव मिट जायगा, तब सारा ब्रह्माण्ड मैं रूप हो जावेगा ।

जब पशु–पक्षी, जीव–जन्तु, झाड़–पत्ते, फुल–फल, सूर्य–चन्द्र, पवन–आकाश, जल–पृथ्वी, नदी–नाला, पर्वत–जंगल मैं रूप प्रतीत होंगे, तभी वास्तविक आनन्द प्रकट होगा । जीवन ब्रह्ममय बन जायगा ।

''ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति'' १८/१४

जब मन में भेद भाव नहीं रहेगा तब निष्काम कर्म, भक्ति, योग, ज्ञान सभी अपने आप होने लग जावेंगे । निष्काम सेवा स्वतः हो जावेगी । भेद भाव रखकर सेवा करने से निष्काम कर्म तथा भक्ति नहीं होगी क्योंकि अपने प्रति श्रेष्ठ भाव एवं जिसके प्रति कर्म सेवा की उसे अपने से निम्न माने बिना सेवा नहीं होगी । समस्त जगत् को जब मैं रूप जानलिया तब अन्य के अभाव में कौन किसकी सेवा करे, कौन किसका कल्याण करे, कौन किसका भला करे ? कौन किसका गुरु बने, कौन किसकी मुक्ति करे, कौन किसका ध्यान करे ? बस मैं ही

मेरी सेवा कर रहा हूँ । मैं ही मेरा कल्याण कर रहा हूँ । ऐसा भान होना ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है।

१. ''मैं'' और 'वह' यह दूर का सम्बन्ध बताता है ।

२. ''मैं'' और 'तू' यह नजदीक का सम्बन्ध बताता है ।

३. ''मैं वह हूँ'' यह एकत्व बताता है ।

इन तीन में जो आखरी स्थिति है वह आत्म स्थिति है । इस तीसरी एकत्व दृष्टि के बिना जीव का कल्याण सम्भव नहीं । अभेद भाव में बैठने से ही शान्ति हो सकेगी । सबको एक निजात्म स्वरूप देखते ही जीव को अखण्ड शान्ति प्राप्त होती है ।

स्वरूप स्थिति किसी जीव की किसी भी अवस्था में जाती नहीं है । केवल मन की ही स्थिति मैं–मेरा, अनुकूल–प्रतिकूलता में डगमगा जाता है ।

जैसे–जैसे आत्म चिन्तन बढ़ेगा तब सर्वत्र एक ब्रह्मात्मा के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं दिखाई देगा । सब मैं ही मैं हूँ ।

शरीर व आत्मा के बीच मन एक कड़ी है । यह चिदाभास यदि देह के साथ मिल जाता है तो अपने को जन्म–मरण धर्मी मानता है और यदि यह आत्मा के साथ एक हो जाता है तो यह आत्मा स्वरूप हो जाता है ।

मन को बारम्बार 'मैं ब्रह्म हूँ' इस भाव में जोड़ते रहने से इसकी ब्रह्मनिष्ठा दृढ़ होती चली जावेगी एवं देहाध्यास देहाभिमान निर्बल होता चला जावेगा । यह अहं ग्रह उपासना ''मैं ब्रह्म हूँ'', ''सोऽहम्'' चिन्तन ही सर्वश्रेष्ठ साधना है ।

मन को पानी के समान कहा जा सकता है । गर्मी के साथ मिलकर पानी भाप बन जाता है । शीतल के साथ मिलकर पानी बर्फ हो जाता है किन्तु भाप, पानी और बर्फ वस्तु एक जल ही है । जन्मों जन्मों से शरीर के साथ मिलने की आदत होने से, आत्म भाव में

ठहरने की आदत निरन्तर अभ्यास द्वारा ही हो सकेगी । जब आत्म भाव में मन ठहरने लग जायगा तब देह के साथ तादात्म्य भाव मिटता चला जावेगा एवं जितना देह भाव कम होता चला जावेगा उतना ही इसे काम करने में दुःख भी नहीं लगेगा ।

साधक चाहे जो शास्त्र पढ़े, चाहे जो मनोनाश के लिये साधन करे किन्तु यह बात तो सबको स्पष्ट ही रहती है कि जिसे हम जानते, देखते, छूते, खाते, भोगते, सूंघते, तोड़ते, जोड़ते, ग्रहण करते, त्याग करते हैं वह वस्तु हमसे सर्वदा प्रथक ही रहती है । इसी कारण वह पदार्थ हमारे अनुभव का विषय हो पाता है । जो पदार्थ हमसे भिन्न नहीं वह पदार्थ हमारे अनुभव का विषय नहीं हो सकता, जैसे मैं आत्मब्रह्म किसी इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं है। समाधि लगना, समाधि न लगना यह सब मन के भाव है । समाधि मन की हो या न हो किन्तु मैं नित्य समाधिस्त ही रहता हूँ । मैं ज्ञान स्वभावी आत्मा एक क्षण के लिये भी असमाधिस्थ नहीं होता हूँ ।

सृष्टि के प्रारम्भ में एक ही सत ब्रह्म था और उस समय उसने ही 'एकोऽहम् बहुस्याम' संकल्प कर यह संसार रूप में फैलगया । तब न मैं था, न तू था, न वह कोई था केवल एक ही तत्त्व था । उसे चाहे ब्रह्म कहो, ईश्वर कहो, आत्मा कहो चाहे चैतन्य कहो ।

जैसे महासागर में लहर उत्पन्न होती है । इसी तरह मैं व यह, वह सभी ब्रह्म सागर की लहर मात्र हैं । कोई लहर छोटी, कोई लहर मोटी होती है । पर सब एक चैतन्य महासागर की लहर मात्र है । लहर जल से कुछ भिन्न नहीं है । इसलिये न उत्पत्ति है, न नाश है । एक मात्र पानी के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं है। लहर का लहर भाव मिटकर मैं शान्त, गम्भीर जल रूप ही हूँ, यह लहर की मुक्ति है ।

इसी तरह चैतन्य रूपी सागर में सब जीव लहर रूप है । समुद्र यह ईश्वर रूप है और पानी ब्रह्म रूप है । जैसे छोटी बड़ी लहर जल के

अतिरिक्त कुछ नहीं है, उन्हें जल बनना नहीं है । इसी प्रकार जीव ब्रह्म ही है । जीव को किसी साधन से ब्रह्म होने की, कोई साधना करने की आवश्यकता नहीं है ।

जैसे आकाश एक अखण्ड सत्ता । घट, मठ उपाधि से घटाकाश, मठाकाश इन दो नामों से कहा जाता है यदि घट, मठ उपाधि छोड़ दी जावे तो आकाश ही एक अखण्ड सत्ता रूप में रह जाता है, अथवा लहर कह सकती है कि मैं जल हूँ और समुद्र भी कह सकता है कि मैं जल हूँ । लहर व समुद्र उपाधि से रहित जल ही मात्र सत्य सिद्ध होता है । समुद्र अंशी की लहर अंश होने से, लहर अपने अंशी समुद्र से भिन्न नहीं । समुद्र भी कह सकता है 'मैं लहर हूँ' क्योंकि कोई भी कार्य कारण से भिन्न नहीं होता है बल्कि कारण ही कार्य रूप में भास रहा है । जैसे समस्त अलंकार स्वर्ण कारण के कार्य रूप होने से स्वर्ण अलंकार भिन्न नहीं है ।

लहर 'मैं समुद्र हूँ' ऐसा तो वह नहीं कह सकती है और समुद्र 'मैं लहर हूँ' ऐसा नहीं कह सकता क्योंकि समुद्र की दृष्टि से लहर कुछ अन्य सत्तावान् है ही नहीं । फिर भी जल तो दोनों ही है । इसी तरह ईश्वर अपने को जीव न कह सके और जीव अपने को ईश्वर न कह सके, किन्तु दोनों अपने को ब्रह्मरूप तो कह ही सकते हैं । दोनों ब्रह्मरूप तो हैं ही । लहर लहर रहेगी वह समुद्र नहीं हो सकेगी । इसी तरह जीव सोचे कि मैं ईश्वर हो जाऊँ तो वह ईश्वर की तरह सामर्थ्यवान नहीं हो सकता । परन्तु सत्ता दृष्टि से जीव ब्रह्म रूप ही है । ब्रह्म से भिन्न नहीं है ।

जीव अपने ब्रह्मरूप का स्मरण अज्ञान के कारण भूल गया है । व्यक्ति का अज्ञान ही अविद्या कहलाती है । ईश्वर की शक्ति को माया कहते है । अविद्या में पड़े हुए चैतन्य के प्रतिविम्ब को जीव कहते हैं और माया में पड़े ब्रह्म के प्रकाश को ईश्वर कहते हैं । भाग त्याग

लक्षणा द्वारा जीव में से अविद्या तथा ईश्वर से माया हट जाय तो दोनों एक ब्रह्मरूप ही हैं ।

मनुष्य प्रत्येक क्रिया एक मात्र नित्यानन्द प्राप्ति के लिये ही करता है किन्तु नित्य किसे कहते हैं ? इस सूत्र की उसे खबर नहीं । इसलिये अनित्य पदार्थों के ही संग्रह में दिन रात पशु की तरह बोझा ढो रहा है । जाना है पूर्व दिशा की ट्रेन में एवं बैठ गया पश्चिम दिशा की ओर जाने वाली ट्रेन में, तब यह कैसे अपने घर पहुँच सकेगा ? इस सत्य वस्तु की परख भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को बता रहे हैं – हे अर्जुन ! सत्य पदार्थ का कभी अभाव अर्थात् नाश, वियोग नहीं होता तथा जो सदा एक जैसा रहे उसे सत्य कहते हैं। जो सर्वकाल जानता रहता है, उसे चेतन कहते हैं तथा जो सदा प्रिय हो उसे नित्यानन्द कहते हैं । इस प्रकार तू सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है । परन्तु यह ज्ञान किसी कर्म या उपासना द्वारा प्राप्त नहीं हो पाता है । इसके लिये तो अध्यात्म शास्त्र अर्थात् ब्रह्म विद्या के अध्ययन की जरूरत होती है । यह अध्ययन हेतु किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु की शरण में जाना पड़ता है ।

सद्‌गुरु जिज्ञासु को नित्यानन्द का बोध कराने के लिये मान सरोवर, अमरनाथ, केदारनाथ, वैष्णव देवी की दुर्गम कष्टप्रद दूर की यात्रा पर नहीं ले जाते हैं। बल्कि सच्चे सद्‌गुरु तो परमात्मा की अखण्डता, सर्वव्यापकता का ही बोध कराते हैं। वे बताते है कि जो परमात्मा ब्रह्माण्ड में है, वह इस पिण्ड में है । जो आत्मा इस पिण्ड में है, वही परमात्मा ब्रह्माण्ड में है । इसलिये नित्यानन्द स्वरूप की प्राप्ति घर में बैठे ही हो जाती है । इसके लिये केवल इसी देह में 'मैं कौन हूँ' यह आत्म विचार करने की ही जरूरत है ।

''मैं कौन हूँ'' का विचार करने के लिये आत्म चिन्तन करना ज्यादा लाभदायक है । इसके लिये कहीं बाहर जाने की एवं अन्य

बाहरी साधन सामग्री पकड़ने की जरूरत नहीं रहती है । मन जब भी संसार का चिन्तन करता है तभी उसी क्षण बीच में मन से मन प्रश्न खड़ा करना चाहिये कि ''मैं कौन हूँ'', ''मैं कौन हूँ''? इस प्रकार विचार करने से सद्गुरु द्वारा समाधान प्राप्त होगा कि तू तो साक्षी–सच्चिदानन्द, परब्रह्म, सर्वत्र, सर्वाधिष्ठान, स्वयंप्रकाश आत्म ब्रह्म है । जब साधक के मन में यह भाव जाग्रत होता है तब जीव का कल्याण होने में कोई संशय नहीं । उसका मोक्ष का द्वार खूल गया । इसका परमधाम मिलगया ।

राम–कृष्ण, देवी–देवता, स्र्वग–नरक है या नहीं, थे या नहीं, इसमें तो सन्देह हो सकता है किन्तु 'मैं हूँ या नहीं' इस बात के लिये न तो कभी किसी को सन्देह हुआ और न किसी से पूछने की ही जरूरत पड़ती है, जैसे अपने आँख, कान के होने के सम्बन्ध में स्वयं ही प्रकट प्रमाण रूप है । इसी तरह मैं तो साक्षात् हूँ, खण्डन–मण्डन के झगड़े में पड़ने की जरूरत नहीं, यह तो पंडितों का काम है । अपने जैसे साधारण गृहस्थ जीवों के लिये यह जरूरत नहीं है । हम तो ज्ञानी–अज्ञानी, मूर्ख–पण्डित इन समस्त भावों से परे केवल सर्व साक्षी चैतन्यात्मा मात्र है ।

प्रत्येक जीव का वास्तविक स्वरूप तो द्रष्टा, साक्षी, चैतन्य आत्मा ही है । इसकी विस्मृति होने के कारण ही अशान्ति, दुःख, भय का जीव अनुभव करता है । जब किसी प्रकार का दुःख, अशान्ति, भय या चिन्ता लगे तो समझना चाहिये कि हम अपने साक्षी स्वरूप से, द्रष्टा आत्म स्वरूप से नीचे उतर आये हैं । इसलिये दुःख या भय लग रहा है ।

व्यवहार में उतरना पड़ता है । तभी यह दुःख, भय, चिन्ता, अशान्ति जीव को झकझोर डालती है । जीव को यह सोचना चाहिये कि जब मैं गहरी नींद में था तब तो किसी प्रकार का भय, चिन्ता,

अशान्ति नहीं थी, अभी जाग्रत में अन्तःकरण के संग तादात्म्य कर लेने के कारण उसके दुःख को अपना दुःख मान दुःखी हो रहा हूँ । जैसे हमारे मित्र, सम्बन्धी हमसे पृथक् दूर रहते हैं इसी प्रकार मेरा शरीर भी एक सच्चा मित्र है । मित्र की सेवा करना मित्रका धर्म है । इसलिये इस देह को स्नान, वस्त्र, भोजन, विश्राम, पानी, औषध आदि से सेवा करता हूँ ।

शरीर को भूलने में ही सच्चा सुख, आरोग्य है–यह हमें प्रति रात्रि गाढ़ निद्रा से उठने पर बोध होता है । उठकर शान्ति एवं स्फूर्ति का पता चलता है । रोग एवं दुःख के साथ मन जोड़ने से ज्यादा कष्ट मालूम पड़ता है एवं मन को आत्म चिन्तन में जोड़ देने से दुःख की प्रतीति उतने काल तक मन को नहीं होती है । तथा उतने काल हमारा आत्मभाव, स्वरूप स्थिति भी दृढ़ होती रहती है । इस प्रकार आत्म चिन्तन से दोहरा लाभ होता है । मनुष्य को यदि आत्म चिन्तन करना आ जाय तो फिर उसे दुःख नहीं होगा । उसके आनन्द का पार नहीं होगा ।

जो होने का है वही होता है, होकर रहेगा । जो नहीं होने का है वह कभी नहीं हो सकता । मैं तो ज्यों का त्यों ही सदा रहता हूँ । मेरे में तो कुछ होने का नहीं । मैं तो आनन्द स्वरूप, चैतन्य स्वरूप साक्षी नित्य आत्मा हूँ । शरीर व मन के धर्म मुझे स्पर्श नहीं कर सकते । सर्व ब्रह्मरूप है, साक्षात् परब्रह्म है । समस्त ब्रह्माण्ड का यही स्वरूप है, कोई किसी से न भिन्न है, न न्यून है बल्कि सब पूर्ण है ।

हे आत्मन् ! देह एवं मन के साथ एकत्व भाव अर्थात् 'मैं हूँ' ऐसा सोचते ही समस्त दुःख उदय हो जाते हैं । जिस शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मनादिको अपना मानते हो, वह मुझ साक्षी आत्मा से सर्वथा प्रथक है । जैसे मन से हम पृथक् हैं इसी प्रकार इस देह से हम द्रष्टा पृथक् है । शरीर को अधम बताया है । हम शरीर से अलग है यह

निश्चय कर लिया तब शरीर का क्या होगा ? इस पर अधिक ध्यान देने की जरूरत नहीं है । पर देखाजाता है कि बड़े बड़े महात्मा समस्त जीवन अखण्ड ब्रह्म का उपदेश करने वाले भी मरने के पहले अपने शरीर की अन्तिम क्रिया के बारे में लिखकर जाते हैं कि शरीर को नर्मदा या गंगा के तटपर, पुरी स्वर्गद्वार या बनारस, काशी पर जलाना, चन्दन से जलाना या अमुक स्थान पर समाधि बनाना, हाड्डी व भस्मी को कहाँ गिराना, समाधि दिवस का महोत्सव बनाना, इस प्रकार नश्वर शरीर के प्रति अहंभाव रखते हैं । अतः अधिकांश समय आत्मा सम्बंध में ही विचार करना कल्याण का हेतु है । 'मैं कौन हूँ' ऐसा विचार करते ही संसार के सभी प्रकार के विचार समाप्त हो जाते हैं ।

मन सत्य होता तो तीनों काल में प्रतीत होता रहता । किन्तु मन सुषुप्ति काल में नहीं रहता है । इसलिये मन सत्य नहीं है । जाग्रत होते ही चैतन्य ही मन रूप में संकल्प कर जाग्रत होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि चैतन्य की लहर ही मन है । मन चैतन्य स्वरूप है । चैतन्य ही संकल्प करके सुखी–दुःखी, बन्ध–मोक्ष रूप में प्रतीत होता है । मन यह चैतन्यात्मा का मिथ्या आभास है । ज्ञानी इस बात को जानते हैं । इसलिये ज्ञानी के लिये मन नाम की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं । इसलिये उसे रोकने हेतु किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होती है, न उसे रोकने हेतु वृत्ति के निरोध करने की जरूरत रहती है । अज्ञानी के लिये मन है । इसलिये वह सुखी–दुःखी, बन्ध–मोक्ष रूप अपने को जानता है । मन को रोकने हेतु नाना प्रकार के साधन करता है । ज्ञानी, अज्ञानी दोनों का मन चैतन्य ही है ।

जिसके लिये एक चैतन्य दृष्टि जाग्रत हो गई फिर वह भेद का दर्शन नहीं करता है । चैतन्य चैतन्य को ही देखता है, चैतन्य को ही सुनता है, चैतन्य का ही स्पर्श करता है, चैतन्य को ही सूंघता है ।

जो जो धन, सम्पत्ति, सगे–सम्बन्धी तथा शरीर है, वह सब परमात्मा को अर्पण कर देना ही परमात्मा की सच्ची भक्ति है एवं समस्त दुःखों से निवृत्त हो परमानन्द प्राप्त करने की सबसे सरल साधना है । एक बार प्रभु को अर्पण कर देने का दृढ़ संकल्प करने के बाद पुनः मन, बुद्धि, शरीर एवं सम्बन्धी को अपना नहीं मानना चाहिये । प्रभु के अतिरिक्त मन अन्य न सोचे, प्रभु चिन्तन के अतिरिक्त बुद्धि कुछ अन्य विचार न करे । देह एवं परिवार प्रभु अर्पण हो गये फिर मैं चिन्तन क्यों करूँ ?

ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग, योग मार्ग या कर्म मार्ग द्वारा अनुसंधान करना परमात्मा के साथ एकत्व भाव जाग्रत करना है । योग का तात्विक अर्थ है कि समस्त दुःखों से, संसार बन्धन से छूटने की युक्ति ।

चित्त वृत्ति को देह सम्बन्धी विचारों से हटाकर आत्म स्वरूप में लगाना ही सच्चा योग है । योग के मुख्य दो मार्ग है – एक प्राण निरोध का मार्ग और दूसरा है विचार मार्ग।

विचार मार्ग में – मन के द्वारा उठने वाली समस्त अनात्माकार वृत्तियों को रोककर यह सब एक अखण्ड आत्मा की लहर मात्र है तथा लहर जैसे जल से भिन्न नहीं, इस प्रकार कोई भी वृत्ति मुझ आत्मा से भिन्न नहीं बल्कि आत्मस्वरूप ही है – ऐसा विचार कर उन्हें रोकना चाहिये ।

दूसरा मार्ग प्राण निरोध का मार्ग, उसके द्वारा भी अभ्यासी संसार बन्धन से मुक्त हो जाते हैं । इन दोनों मार्गों को योग नाम से कहा जाता है । किन्तु प्राण निरोध का मार्ग ही विशेष रूप से योग शब्द से प्रचलित हुआ है ।

किसी को प्राण निरोध का मार्ग सहज लगता है तो किसी को आत्मज्ञान रूप बुद्धि योग करना सरल लगता है । महर्षि वशिष्ठजी

कहते है – हे राम ! मुझे तो आत्म ज्ञान रूप बुद्धि योग सबसे सरल लगता है । जो पुरुष विचार करने में कुशल नहीं है, उसे ज्ञान मार्ग, बुद्धि योग कठिन लगता है । भगवान श्रीकृष्ण भी अर्जुन को यही विचार मार्ग का महत्व बताते हैं ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।। १३।२ : गीता

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को अर्थात् विकार सहित प्रकृति का और विकार रहित आत्मा को जो सम्यक् रूप से जानता है वही मेरे मत से ज्ञान है और यह जड़–चेतन, दृश्य–द्रष्टा, शव–शिव, अनात्मा–आत्मा, प्रकृति–पुरुष का ज्ञान ही मोक्षदायक वास्तविक ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान है ।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यद तोऽन्यथा ।। १३/११ : गीता

आत्मवस्तु एवं अनात्म वस्तु की भिन्नता का बोध होना ही सच्चा ज्ञान है । इसके अतिरिक्त जो भी नाम, रूप की लीला कथा है, वह सब यह संसार अज्ञान मात्र एवं बन्धन का हेतु है ।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुति परायणाः ।। १३/२४ : गीता

परन्तु जो साधक विचार मार्ग एवं योग मार्ग का साधन करने में असमर्थ हैं, वे भी किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु के उपदेशानुसार श्रवणमात्र से अपने में अहं ब्रह्मास्मि, इस अहं ग्रह की उपासना करने से इस संसार सागर से सहज मुक्त हो जाते हैं । लेकिन –

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।१२/५ : गीता

जिन अज्ञानियों को दृश्यमान अपना शरीर तथा सम्पूर्ण जगत् माया का कार्य होने से क्षणभंगुर, नाशवान्, जड़ और अनित्य और दुःख रूप है तथा जीवात्मा तो नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी

शुद्ध-बुद्ध, मुक्त सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का अंश है – ऐसा यथार्थ ज्ञान बुद्धि गम्य नहीं होता है, उन देहाभिमानियों के लिये, गुरु के अभाव में, यह शुद्ध ज्ञान कठिन सा लगता है ।

अर्थात् ज्ञान तथा अज्ञान के स्वरूप का स्पष्ट विवेचन करने की योग्यता जिन में नहीं है यह सत्य बात उनके बुद्धि में नहीं बैठती है । परन्तु निर्मल मन वाले बुद्धिशाली पुरुषों के लिये सद्गुरु कृपा से विवेक जाग्रत हो जाने पर यह आत्म विचार सरल सुगम सहज होता है ।

अज्ञान ज्ञान द्वारा प्रकाशित होने से अज्ञान परप्रकाश है एवं ज्ञान सर्व प्रकाशक होने से स्वयंप्रकाश है । अज्ञान व ज्ञान में बहुत अन्तर होने से विचार द्वारा निर्णय किया जा सकता है कि किसे ग्रहण किया जाय एवं किसका त्याग किया जाय । इसलिये जितना आत्मज्ञान, बुद्धि योग सरल है, उतना प्राण निरोध चित्तवृत्ति निरोध सरल नहीं है ।

मनुष्य के भीतर तथा बाहर जो एक सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान परमात्म तत्त्व है उसके साथ ज्ञान योगी सीधा सम्बन्ध जोड़ देता है । अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, सोऽहम्, शिवोऽहम् रूप चिन्तन से बिना अन्य साधन के जीव का परमात्मा के साथ सीधा सम्बन्ध जुड़ जाता है ।

जीव जब तक वेदान्त विचार नहीं करता है तब तक उसकी संसार के प्रति आसक्ति एवं देह के प्रति अहं भाव, किसी अन्य साधन द्वारा नहीं छूट सकता ।

साधक के जीवन में जब किसी व्यवहार को लेकर दुःख लगे तब विचारना चाहिये कि यह घटना को, यह रोग को, यह अपमान को, इस अभाव को, इस असन्तोष को जानने वाला मैं इन सब से पृथक हूँ । शरीर को मैं जानता हूँ । इसलिये मैं शरीर से जुदा हूँ । इसलिये शरीर के रोग, अवस्था एवं उसके सम्बन्धियों से भी मैं

सर्वथा पृथक् हूँ । वे सब शरीर के कहलाते हैं । मन को मैं जानता हूँ । इसलिये मैं मन नहीं हूँ । जब मैं मन नहीं हूँ तो मन के सुख–दुःख, राग–द्वेष, काम–क्रोध, लोभ–मोह अहंकारादि धर्म भी मेरे नहीं है । वे सब मन के धर्म हैं और मैं उन्हें केवल जाननेवाला हूँ । बुद्धि को मैं जानता हूँ, इसलिये बुद्धि मैं नहीं हूँ । जब बुद्धि मैं नहीं तो बुद्धिमान–मूर्ख, पण्डित, अज्ञानी धर्म भी मेरे नहीं ।

मैं शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन बुद्धि आदि को जाननेवाला उनसे सर्वथा पृथक् हूँ । 'मैं जानता हूँ' इसलिये उनके धर्म मुझे स्पर्श नहीं कर सकते । एकान्त में बैठ पूछने लगो कि क्या मैं शरीर हूँ ? जब तक हृदय से उतर न आवे तब तक लगातार पूछते रहें कि क्या मैं शरीर हूँ ? जब उत्तर आ जावे कि तू शरीर नहीं शरीर दृश्य है और तू शरीर का द्रष्टा है, तब इस शरीर के रोग, भोग, अवस्था, रूप, रंग, उम्र, वजन, जाति, गुण, धर्म क्रिया भी मेरी नहीं है – ऐसा निश्चय करना ।

फिर पूछे क्या मन तू है ? जब अन्दर से जवाब मिल जावे कि नहीं ! तब तू मन को जानने वाला है । जब मैं मन नहीं मन को जानने वाला हूँ तो मन के सुख–दुःख, चंचल–शान्त, पुण्य–पाप, बन्ध–मोक्ष, काम–क्रोध, ज्ञान–अज्ञान, ध्यान–समाधि धर्म भी मेरे नहीं है । इस प्रकार अपने को समस्त देह संघात् के धर्मों एवं उनके अहंकार से सदा असंग एवं मुक्त ही जानना चाहिये । जन्मों जन्मों से जीव को गलत में अहं बुद्धि हो गई है । इसे प्रयत्न पूर्वक दृढ़ अभ्यास द्वारा निकाल सही चिन्तन में मन को डुबाना चाहिये । यदि आज या इस जन्म में यह सत्य बोध प्राप्त करने के लिये अभ्यास नहीं किया जायगा तो हजारों जन्म के बाद भी इसे शान्ति नहीं मिल सकेगी अतः सत्य ज्ञान को प्राप्त कर ही जीव को सच्ची शान्ति मिल सकेगी । इस आत्म निश्चय के अतिरिक्त शान्ति का अन्य मार्ग ही नहीं है ।

जब यह बोध जाग्रत हो जावे कि मैं यह शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन बुद्धि नहीं हूँ, तब मैं क्या हूँ ? इसका उत्तर अपने द्वारा करने चाहिये, तब अन्दर से यह बुद्धि में विचार आयगा कि मैं इन सबको जानने वाला साक्षी आत्मा हूँ ।

मेरा यह साक्षी भाव भी नित्य नहीं रहता है । अन्तःकरण की अपेक्षा से साक्ष्य–साक्षी, दृश्य–द्रष्टा भाव रहता है । किन्तु जब गहरी नींद में अन्तःकरण की वृत्ति रूप यह मन नहीं है, तब वहाँ किसका साक्षी, किसका द्रष्टा बने ? जब वहाँ दृश्य एवं मोक्ष नहीं तो उनकी अपेक्षा से कहलाने वाला द्रष्टा, साक्षी भी कोई नहीं है । परन्तु मैं नित्य हूँ । मैं साक्षी द्रष्टा भाव के होने, न होने को भी जानता रहता हूँ ।

मैं–मेरा, तू–तेरा भाव नहीं तो फिर राग किससे एवं द्वेष किससे ? बिस्तर से उठते ही मन से प्रश्न करों कि कौन उठा है ? तुरन्त ही समझ में आ जायगा कि मन उठा है और उसने देह व इन्द्रियों को जाग्रत किया है । आत्मा अर्थात् मैं, तो ज्यों का त्यों ही बना रहता हूँ । मुझमें किसी प्रकार का परिवर्तन, लाभ–हानि नहीं है ।

किसी भी व्यवहार काल में पूछते रहें कि यह कार्य कौन करेगा और तुम कौन हो ? तब उस क्रिया के प्रति उत्तर मिलेगा कि मन को इच्छा हुई है । देह, प्राण, इन्द्रिय मिलकर करेंगे और मन ही उसके लिये कर्ता–भोक्ता है । जब ऐसा दृढ विचार बना रहेगा तो मेरा स्वभाव सहजानन्द प्रकट होता रहेगा । क्योंकि आत्मा सहज आनन्द स्वरूप ही है । आनन्द प्राप्ति हेतु जीव को अपने यथार्थ विम्ब स्वरूप आत्मा को जानने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के साधन करने की किञ्चित् भी जरूरत नहीं है । प्राप्त पदार्थ की प्राप्ति के लिये केवल उस पदार्थ का बोध हो जाना ही एक मात्र साधन है । कर्म, उपासना,

योग, त्याग आदि अनेक साधन तो जीव के मन के मल विक्षेप दोषों को दूर करने के लिये एवं ब्रह्म जिज्ञासा उदय होने तक अनिवार्य साधन है । ब्रह्म जिज्ञासा उदय होने पर सद्गुरु द्वारा प्राप्त सच्चिदानन्द आत्म स्वरूप का ज्ञान करना ही कर्तव्य रूप है ।

यह स्थूल शरीर षट् विकारी होने से गुरु कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता । यह शरीर तो एक दिन मृत्यु को प्राप्त होने ही वाला है । जिसका जन्म हुआ उसकी मृत्यु को कोई भी समर्थवान सिद्ध योगी रोक नहीं सकता । इससे जीव का कल्याण नहीं हो सकता । देह की तरह इन्द्रियाँ भी विकारी एवं नाशवान् है । मन भी घड़ी घड़ी में बदलता रहता है । वह भी उदय–अस्त स्वभाव वाला होने से गुरु कहलाने योग्य नहीं है । बुद्धि की भी यही विकारी अवस्था है । तो फिर गुरु कहलाने का कौन सच्चा अधिकारी है ? यह विचारणीय विषय है ।

गुरु कहलाने का वही अधिकारी है जिसकी शक्ति का अंश पाकर यह पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सहित देह द्वारा समस्त कार्य होता है । अतः आत्मा ही गुरु स्थान पर सिद्ध होता है, क्योंकि यह अविकारी एवं अविनाशी ज्ञान रूप है । समस्त प्राणियों और पदार्थों में यह तत्त्व ओतप्रोत हो रहा है ।

स्थूल, सूक्ष्म जो कुछ तत्त्व है उन सभी में आत्म तत्त्व पूर्ण रूपेण ठसम–ठस भरा हुआ है । यह तत्त्व गुरु है और यही आत्मा–परमात्मा, सत–चित–आनन्द, ब्रह्म–परब्रह्म है । यह सद्गुरु मुझ में, तुझ में तथा सर्व में व्याप्त है । परन्तु बहुत समय से मन यह बात भूल गया है कि मेरा असली रूप आत्मा है । अतः अब हे जीव ! तू मन को शिष्य बनाकर समझा कि तेरा सच्चा स्वरूप तेरे ही अन्दर विद्यमान है । उसे जानकर देह भाव को मन से भुला कर तू सच्चा आनन्द का अनुभव कर ।

आश्चर्य है कि मैं–मेरा की भीड़ में अपने को ही भूलकर अपने को ही खोजने निकल पड़े हैं । ''दसवां तू की तरह'' सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा बाहर न खोज अन्दर ही खोज, वह अन्दर ही बैठा हुआ है । तू खुद ही वह आत्म स्वरूप है । तू स्वयं आत्म स्वरूप होने से कुछ भी जानने, पाने, करने को बाकी नहीं है । जानना न जानना यह तो मन–बुद्धि का धर्म है ।

इस प्रकार का सत्य बोध देने वाले के प्रति पुण्यभाव, सद्गुरु भाव, सद्भाव मन में रहना चाहिये । इस ज्ञानोदय को ही गुरु पूर्णिमा माना जाता है ।

'गु' अर्थात् इन्द्रियाँ और 'रु' अर्थात् प्रकाश । इन्द्रियों को जो प्रकाशित करे, वह आत्मा ही गुरु है ।

मैं समस्त इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, देहादिको को प्रकाशित करता हूँ, जानता हूँ किन्तु मुझे कोई नहीं जानता इसलिए मैं ही स्वयंप्रकाश आत्मा विश्व गुरु हूँ । इस स्वरूप निष्ठा में अडिग रहना ही ज्ञान है । यही **आत्म साक्षात्कार** या **समाधि** है ।

जैसे नाम, जाति वाले व्यक्ति को गहरी नींद से भी जगा कर कोई पूछले कि भाई ! तेरा नाम क्या है ? तू कौन जात वाला है ? तो वह तुरन्त अपना नाम एवं ब्राह्मण, पंजाबी, उड़िआ, मारवाड़ि आदि बतादेता है । उसे देर नहीं लगती, न वह भूलता है, न वह किसी से अपने होने के लिये पूछता है । किसी डर से वह अपने को अन्य रूप से भी बताता है तो भी अन्दर से वह जानता रहता है कि मेरा असली नाम व जाति तो अन्य है, यह नहीं जो मैं अभी बता रहा हूँ । वह मैं हूँ जो इस व्यवहारिक नाम, रूप को जानता है।

देह के नाम व जाति के प्रति जैसी जीव की गलत दृढ़ भावना हो जाती है, इसी प्रकार मैं आत्मा परब्रह्म हूँ, यह बात भी हृदय में दृढ़ हो जाना चाहिये । इस दृढ़ता के लिये अधिक सत्संग, मनन की

जरूरत है । अब कुछ चलने की, कहीं पहुँचने की जरूरत नहीं । लक्ष्य स्थान पर पहुँचे हुए ही हैं । लक्ष्य स्थान परमात्मा है और वह मैं हूँ । इसमें कोई शंका नहीं है । परमात्मा मुझसे भिन्न या दूर हो तब तो उससे मिलने के लिये मार्ग एवं साधन की जरूरत रहती है ।

शास्त्रों का स्वाध्याय अपने स्वरूप के प्रति संशय रहित हो जाने के लिये है । संशय रहित हो जाने के बाद अपने स्वरूप में दृढ़ीभूत हो जाना चाहिये । फिर अधिक शास्त्र पढ़कर, वाणी व मन को थकाने की जरूरत नहीं । शास्त्र पढ़कर स्वरूप बोध नहीं हुआ तो शास्त्र पढ़ना व्यर्थ परिश्रम मात्र है और शास्त्र द्वारा सत्य में प्रेम जाग्रत हो गया तो फिर शास्त्र पढ़ना व्यर्थ है। इस काम में अन्य किसी का जोर काम नहीं करेगा । इसके लिये तो जीव का अपना ही बल काम कर सकेगा । यह बात किसी अन्य को बोलने की, बताने की नहीं है कि मैं ब्रह्म हूँ, मैं स्वयं प्रकाश सच्चिदानन्द आत्मा हूँ । यह बात अन्दर ही मन में मनन कर दृढ़ करने की है । भूल जाने पर फिर अपने स्वरूप में आ जाना चाहिये । सब शास्त्र पुराण को जानले किन्तु स्वयं के प्रति आत्मा भाव दृढ़ नहीं हुआ तो सब व्यर्थ है । अतः आत्म भाव को ही दृढ़ करो ।

शरीर मिला है तो एकदिन निश्चित जाने ही वाला है । तो फिर आज से ही यह समझलो कि मेरा शरीर नहीं है । फिर मृत्यु आने पर सहर्ष उसका स्वागत कर सकेंगे । मृत्यु भय छूट जावेगा । अतः प्रतिदिन इस प्रकार मन ही मन यह धारणा, यह चिन्तन बनाये रखना चाहिये । जब मैं मर गया यह धारणा दृढ़ हो जावेगी तब 'मेरापना' भी सब से मिट जावेगा । जीव पहले शरीर में मैं–पना जाग्रत करता है तथा शरीर सम्बन्धित व्यक्ति या वस्तु में मेरा–पना जोड़ दुःख को निमन्त्रण देता है । संसार रोग की औषध तो यही है कि अहं–ममत्व छोड़कर आत्मभाव में मन को स्थित करना । इस आत्मनिष्ठा को दृढ़ करने के लिये जो

साधन जिस समय अनुकूल पड़े वही कर आत्म स्थिति बनाये रखना चाहिये । अतः देहाभिमान का त्याग कर आत्मभाव में जाग्रत हो जाओ । अपने सत्य स्वरूप को जानकर, अपने द्रष्टा स्वरूप को जानकर, अपने साक्षी स्वरूप में मस्त रहो ।

मनुष्य जीवन का ध्येय तो परमात्मा को प्राप्ति करना अर्थात् आत्मभाव में स्थित रहना है । शरीर व मन द्वारा प्रारब्धानुसार जीवन व्यवहार होता रहता है उन्हें रोकने की आवश्यकता नहीं है, अशुभ से मन को हटाकर शुभकर्म एवं शुभ चिन्तन में मन को लगाते रहना चाहिये । शुभ में प्रवृत्ति होने पर दान, धर्म, सेवा,भक्ति, जप, ध्यानादि का अहंकार को भी ज्ञानाग्नि रूप साक्षी भाव में नष्ट करदेना चाहिये । बिना साक्षीभाव, द्रष्टाभाव में स्थित हुए यह कर्ताभाव नष्ट नहीं हो सकेगा । क्योंकि द्रष्टा कभी उसी काम का कर्ता नहीं हो सकेगा एवं कर्ता कभी उसी काम का द्रष्टा–साक्षी नहीं हो सकेगा। साक्षी हो जाने पर कर्ता की मृत्यु हो जाती है एवं कर्ता के पैदा होने से साक्षी छुप जाता है ।

अतः अपने आत्मस्वरूप में स्थित रहने के लिये प्रति घंटा में पांच मिनट अपने आप प्रश्न करते रहना चाहिये मैं कौन हूँ, मैं कौन हूँ ? उत्तर भी निकलना चाहिये कि मैं समस्त इन्द्रिय, वृत्ति, क्रिया तथा शरीर से मुक्त असंग आत्मा हूँ । जैसे भोजन, पानी, पवन के लिये व्यक्ति परेशान रहता है, इसी तरह आत्म चिन्तन के लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासन करते रहना चाहिये ।

हम शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियों से भिन्न सबके साक्षी मात्र है । यही हमारा सच्चा स्वरूप है और इसी भाव में हर समय रहने का प्रयास करते रहना चाहिये । जैसे शरीर व मन में अहंभाव जाग्रत हुआ, वैसे ही सुख–दुःख के बादल बरसने लग जावेंगे । अतः जब भी सुख–दुःख दिखाई पड़े तो समझना चाहिये कि मैं अपने

आत्मस्थिति से उतर कर, शरीर व मन में अहंभाव कर घुस बैठा हूँ । अतः तत्काल देह संघात् से मनको निकालकर साक्षी भाव में स्थापित करना चाहिये ।

प्रारब्धानुसार जीवन व्यवहार करते रहें, उसे बन्द करने की जरूरत नहीं । लेकिन जैसे ही काम से निवृत्त हो उसी समय अपने मन को आत्मस्वरूप में लगाना चाहिये । समस्त आसक्ति तथा दुःख का मूल बीज तो देह में मैं पना है । देह में मैं भाव उठते ही अन्य में मेरा भाव जाग्रत हो जाता है । देहाध्यास को मन से निकालकर उसकी जगह आत्मभाव को दृढ़ करते रहे । यदि आत्म चिन्तन में आलस किया तो धीरे धीरे पुनः देहाध्यास दृढ़ हो जावेगा व फिर आप जहाँ – तहाँ अज्ञान खाई में गिर जावेंगे । इसीलिये शास्त्रकारों ने, ज्ञानी संतों ने प्रत्येक क्रिया के साथ त्रिकाल सन्ध्या का अभ्यास बताया है ।

जिस तत्त्व द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड गतिशील है, वह तत्त्व 'मैं हूँ' यह परम सत्य न भूलने पावे, इसी में जीवन की सफलता है । जैसे तुम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शरीरों से, उनके कर्मों से पृथक् हो वैसे ही तुम जिस शरीर में रहते हो उससे भी तूम पूर्ण रूपेण जुदा हो । जैसे समुद्र में बर्फ के अनेक टुकड़े तैरते दिखाई पड़ते हैं इसी प्रकार चैतन्य सागर में अनेक जीवरूपी अंश विचरते दिखाई पड़ते है ।

संसार मनो मात्र है । मन नहीं तो संसार नहीं । मन के नाश से संसार का नाश हो जाता है । मन स्वयं संकल्प करके अपने को शरीर मानकर 'मैं हूँ' तथा शरीर से बाहर वालें से तू–तेरा भाव करता है । इसी कारण मन बन्धन को प्राप्त होता है ।

मैं सच्चिदानन्द साक्षी–शिव–कल्याण स्वरूप आत्मा हूँ, मैं त्रिकाल में देह नहीं, मैं इस देह संघात् का द्रष्टा मात्र हूँ ।

जगत् की किसी प्रकार की वस्तु की चाह यदि हृदयाकाश में उदय न होती तो चित्त उत्पन्न नहीं हो सकता। जिस समय मन में भूत तथा भविष्य के विचार उत्पन्न होते हैं उन्हें उसी समय दूर करो । तूम बिना वासना वाले मन वाले होकर रहो । मन के सभी विकल्पों को दूर करने का सरल उपाय है जो 'परब्रह्म है वह मैं हूँ' ऐसा मानकर कृतकृत्य हो जाओ । सम्पूर्ण जगत् का आधार 'मैं हूँ' ऐसा निश्चय करके तूम शोक मोह से मुक्त हो जाओ । विचारों के चाल में फंसना ही संसार का कारण है और उन्हें मिटादेना ही मुक्ति है ।

देह की क्रियाओं को करते हुए जो उनमें लिप्त नहीं होता, वही सच्चा सुखी है । जब तक अपने आत्म स्वरूप का बोध नहीं होता, वहाँ तक चित्त का लय नहीं हो सकता । इसी प्रकार आत्मज्ञान, मन का नाश और वासनाओं का क्षय यह एक दूसरे पर आधार रखते हैं । वासनाओं का नाश होते ही मन का नाश हो जाता है ।

उठते, बैठते, चलते, सोते, जागते, कुछ भी करते जिसका मन विचारों के आधीन नहीं होता, वह मनुष्य जीवित होते हुए भी मरे हुए के समान है । विचारों का त्याग, अहंकार का त्याग ही मोक्ष है । उसे ही जीवनमुक्त कहते हैं । हर्ष शोक जिस वासना से पैदा हो वह मलिन वासना है एवं हर्ष शोक से रहित वासना बन्धन का कारण नहीं होती है, उसे शुद्ध वासना कहते हैं ।

जो न तो जीने की इच्छा करता है, न मरण का इच्छा करता है अथवा जीवन को धिक्कारता नहीं तथा जगत् को सत भी नहीं मानता एवं असत् भी नहीं मानता ऐसा जानकर विचारों का त्याग करना ही वास्तविक ज्ञान है । इच्छाओं का त्याग कर जो परम चैतन्य स्वरूप परमात्मा है 'वही मैं हूँ' ऐसा निश्चय करके भूत, भविष्य की चिन्ता छोड़कर, यह जगत् एक अखण्ड, शान्त आनन्द स्वरूप आत्मा है

ऐसा निश्चय करके जानो कि मैं नित्यमुक्त नहीं कि बन्ध भी नहीं, बल्कि ब्रह्म ही हूँ । सच्चिदानन्द ब्रह्म तो मैं ही हूँ ।

अहंकार का त्याग होने से व्यक्तिगत भाव समाप्त होकर सर्वत्र समानता जाग्रत हो जाती है । चित्त का नाश होने से तूरीयावस्था मोक्ष प्रकट हो जाता है । यहाँ न अविद्या है, न माया है, न जीव है । न ब्रह्म है यहाँ तो एक मात्र शान्त ब्रह्म ही है । अतः सब नाम, रूप भेद दृष्टिको छोड़कर चित्त का चिदाकाश में विलय करना ही चित्त का नाश है । चित्त का होना अर्थात् नाम, रूप भेद सृष्टि में सत्य बुद्धि करना ही परम दुःख का कारण है तथा चित्त का नाश ही परम सुख का कारण है । इसलिये बाह्य संसार से बहुत आवश्यक कार्य में वृत्ति लगावें एवं अन्दर निवृत्तिवाले रहे । साक्षी भाव में स्थित रहने का अभ्यास करो ।

रस्सी द्वारा बन्धे हुए को तो कोई दूसरा दयालु पुरुष खोल देता है किन्तु वासना द्वारा बन्धे हुए को मैं–मेरा, तू–तेरा भाव में बन्धे अज्ञानी को कोई दूसरा कैसे छुड़ा सकेगा ? उस बन्धन से छूटने हेतु तो स्वयं को ही सतत चिन्तन, मनन करना होगा । अतः समस्त तृष्णाओं को दुःख रूप जान त्याग करो । मैं और मेरा भाव का मन से त्याग करो एवं लीला, खेल रूप बाह्य जगत् का व्यवहार करो । यही जीवनमुक्त दशा कहलाती है । मन व इन्द्रियों पर जिसे संयम है तथा प्रारब्ध से मिलने वाले दुःख–सुख पर जिसे समान भाव अर्थात् द्रष्टा साक्षी भाव है वही सच्चा योगी और संन्यासी है, वह ही ब्रह्म को प्राप्त हुए माने जाते हैं ।

बाहर से प्रारब्धानुसार क्रिया करते हुए, अन्दर हृदय में अभिनय करता कलाकार बन क्रिया रहित, उपाधि रहित, सम्बन्ध रहित, कर्तव्य रहित निष्क्रिय, साक्षी रूप होकर जीवन व्यवहार, जीवन लीला को देखते रहो । वृत्तियों के उदय–अस्त, देह के जन्म–मरण, मन के सुख–दुःख से अपने को रहित जान शान्त परमपद में स्थित रहो ।

'मैं चैतन्य हूँ' मेरी तरह सम्पूर्ण जगत्, लोग, दिशाएँ, पवन, जल, सूर्यादि भूत सभी एक चैतन्य की किरणे हैं, सभी प्राणी चैतन्य मात्र है मैं अखण्ड, अविनाशी, नित्य, चिदानन्द, स्वयं प्रकाश, सर्वप्रकाश, सर्वाधिष्ठान, निर्विकल्प, निराकार, सहज समाधि में स्थित हूँ , यही निश्चय में सदा स्थित रहने का विचार करते रहें ।

मन को आत्म भाव में स्थिर करने के पहले जीव द्वारा जो भी दान, धर्म, व्रत, योग, यज्ञ, यागादि कर्म होते हैं, वे करने वाले के मन में कर्ता भाव जाग्रत करादेता है, जो जीव के बन्धन का कारण है । अतः सर्व प्रथम मन से कर्ताभाव विवेक द्वारा हटा, द्रष्टा साक्षी भाव जाग्रत कराने का अभ्यास करना चाहिये । अन्यथा कर्म होने के बाद मन तुरन्त अभिमान को पकड़ लेता है कि मैंने सर्व का दान करडाला । जैसे की राजा शिखरध्वज ने कुम्भज मुनी (स्वयं की पत्नी) को अपना दम्भ दर्शाया था कि मैंने राज्य, रानी, पुत्र, कुटिया, आसन, वसन, कमण्डलु, लिगोंट आदि सभी पदार्थों का त्याग कर दिया । तब कुम्भज मुनि ने कहा यह मिथ्या अभिमान क्यों करता है ? इन सब में तेरा था ही क्या, जो तू इनके त्याग का अभिमान करता है ? तब शिखरध्वज अपने देह का त्याग करने को उठ, पहाड़ से गिर आत्महत्या करने को जाने लगा । कुम्भज मुनी ने उसे फिर ललकारा व कहा – अरे ! तू इस देह का मिथ्या अभिमान क्यों करता है, इस देह में तेरा है ही क्या ? यह तो प्रत्यक्ष में पिता–माता का अथवा पंच भूतों का कार्य है । जब तक चित्त का त्याग नहीं करेगा तब तक सर्व का त्याग करने पर भी त्याग तो नहीं होगा बल्कि त्याग का अभिमान और पकड़ लेगा । चित्त का त्याग ही सर्व का त्याग है । चित्त ही संसार है ।

मन का त्याग किये बिना स्वधर्म का पालन करने या समस्त वर्णाश्रम धर्म का पालन करने से मन का घमण्ड और दृढ़िभूत हो जाता है कि मेरा जैसा धर्मवीर, दानी, त्यागी, तपस्वी, सहिष्णु कोई नहीं ।

जैसा कि राजा ययाति को अपने धर्म, कर्म का घमण्ड था तो वह इस धर्म, कर्म अभिमान प्रदर्शन के कारण इन्द्रपद स्वर्ग से गिर मुत्युलोक में आगया ।

मैं स्वपाकी ब्राह्मण हूँ, मैं किसी के हाथ का पकाया, छुआ या देखा नहीं खाता हूँ । अपना ही मांज, धोकर, काटकर, पकाकर, अकेला ही खाता हूँ । दूसरे का पकाया, छूआ, अन्न मेरे पवीत्र ओठ का स्पर्श नहीं कर सकता। यह बकवादी स्वधर्मादिक का अभिमानी, हडकाये कुत्ते की तरह क्रोधी, घमण्डी बन जाता है । वाचिक ज्ञानी भी अभिमानी हो जाते हैं और बकवास करते है कि मन के धर्म है मैं तो उनका द्रष्टा हूँ ।

समस्त कर्म देह, प्राण, इन्द्रियों तथा मन के सहयोग द्वारा होता है । किन्तु जबतक देहभाव रहता है, तब तक मनादि के कर्म को जीव अपने कर्म स्वीकार कर बन्धन को प्राप्त होता है । जब सद्गुरु की कृपा द्वारा आत्मभाव जाग्रत हो जाता है, तब जीव का देह संघात् से तादात्म्यता छूट जाती है और जीव जीवन्मुक्त हो जाता है ।

ज्ञानी देहाभिमान से मुक्त होकर देह, इन्द्रिय के कर्म देह, इन्द्रियों पर ही छोड़ देता है । ज्ञानी संसारी लोग की तरह देह संघात् के कर्म करता रहता है किन्तु उन कर्मों में ज्ञानी का राग–द्वेष नहीं रहता है । ज्ञानी देह में रहते हुए अपने को देह से पृथक्, विदेही जानता है । इसलिये ज्ञानी को कर्म बन्धन स्पर्श नहीं करते हैं । किन्तु अज्ञानी लोग ऐसे देही ज्ञानी को अपनी तरह कर्म का कर्ता एवं बन्धन में फंसा जानते हैं । परन्तु ज्ञानी तो लोक कल्याणार्थ अज्ञानी जनों को शिक्षा देने हेतु निष्काम कर्म करते हैं ।

निष्काम कर्म करने से मन निर्मल होकर आत्मभाव की जाग्रती में सहायक होता है । व्रत, दानादि द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध सरलता

से हो जाता है किन्तु संसार में दानादिक जो जो कर्म है वह सकामता से होने के कारण जीव को परलोक का फल देने वाले होते हैं। अतः व्रत, दान, यज्ञादि कर्मों को निष्काम भाव से ही करना चाहिये तथा यह भावना मन में रखना चाहिये कि इन कर्मों के द्वारा मेरी चित्तवृत्ति का दमन हो, शुद्ध होजावें ।

मन में अनादिकाल के अनेक जन्मों का देहाध्यास छोड़ने का प्रयास करना एवं आत्मभाव में मन दृढ़ीभूत हो जाना ही मनोनिग्रह या चित्तवृत्ति निरोध कहलाता है । पाषाणवत् अचेतन हो जाना चित्तवृत्ति निरोध या मनोनिग्रह नहीं है। विचार शून्य हो जाना भी चित्तनाश नहीं है । प्रति रात्रि गहरी निद्रा में सभी मनुष्यों का मन विचारशून्य हो जाने से, आजतक किसी को मुक्ति या शान्ति नहीं मिली । जाग्रत होने पर फिर वही दुःख, अशान्ति,भय होने लगता है ।

जिस जीव का मन स्थिर, निष्काम एवं आत्म स्वरूप में दृढ हो गया है, उसे यज्ञ, तप, ध्यानादि साधन करने की कोई जरूरत नहीं है। जिसका मन स्वाधीन एवं शांत नहीं हुआ, उस व्यक्ति के द्वारा किये गये सभी कर्म निष्फल हो जाते हैं क्योंकि सकाम कर्म जीव को बन्धन में डालते हैं ।

जिस व्यक्ति को भोजन द्वारा पूर्ण तृप्ति का अनुभव हो गया है, उसके आगे चाहे जितने स्वादिष्ट मधुर भोजन रखा जाय तो वह क्या खाने की इच्छा कर सकेगा ? कभी नहीं। अथवा सड़े हुए गन्ध देने वाले अन्न को देखना, सुंघना चाहेगा ? कभी नहीं । इसी तरह जिनका मन निर्मल, शान्त, स्थिर हो चुका है, उन्हें अज्ञानियों की तरह कर्म करने की इच्छा नहीं होती है । यात्री गंगा पार जाने के लिये नौका खोजता है किन्तु पार पहुँचने के बाद वह नौका में बैठना नहीं चाहेगा । नदी में बाढ़ होने पर तैरकर उस पार जाने हेतु बहुत हाथ पैरों की कसरत करना पड़ती है, किन्तु नदी का बाढ़ उतर जाने पर पार होने के लिये हाथ पैर हिलाने की जरूरत नहीं रहती है ।

इसी प्रकार काम, क्रोध,राग, द्वेष द्वन्द्व समाप्त हो जाने पर निर्विकल्पी और दृढ़ निश्चयी हो जाने पर उसे किसी एक का ध्यान, आदिक साधन करने की कोई जरूरत नहीं रहती है ।

इसी प्रकार जिसका मन शान्त हो गया है, स्वरूप में स्थित हो चुका है, समाधिस्त हो चुका है उस तत्त्ववित को करोड़ों साधनों में से किसी एक साधन करने की भी जरूरत नहीं रहती है । जैसे सन्ध्या के समय दीपक जलाने की जरूरत रहती है किन्तु सूर्योदय के बाद दीपक जलाने की आवश्यकता नहीं रहती है । इसी तरह मन में जब निष्कामता जाग्रत हो जाती है, निर्वाणता आ जाती है तब मन स्थिरता हेतु करोड़ों साधन होने पर भी किसी एक साधन करने की जरूरत नहीं रहती है । उस स्थिर चित्त वाले ज्ञानी पुरुष के सभी संकल्प विकल्प निर्बीज हो जाते हैं । उसकी कल्पना में पुनर्जन्म देने की शक्ति नहीं रहती है ।

चेतन आत्मा का प्रतिविम्ब रूप मन देह में तादात्म्य करके 'मैं देह हूँ' ऐसा मानकर मैं और मेरा, अहं तथा मम भाव कर यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह अन्य है इस प्रकार देहात्मबुद्धि कर जन्म मरण के गड्डे में पड़ा दुःख पाता है ।

आत्मा देह रहित और ज्ञान स्वरूप है । लेकिन विपर्यय ज्ञान के कारण जीव मैं ही देह हूँ, इस प्रकार अभिमान करने के कारण नाना योंनियों में जन्म लेता है । इस कारण जीव दुःख के महा अरण्य में भटकता रहता है । आत्मा नित्य मुक्त विदेही है । इस बात को जीव भूल अपने को, विदेही को देहवान, अजन्मा को जन्मने वाला, अविनाशी को मृत्युधर्मा, मुक्त को बद्ध, आनन्द स्वरूपी होने पर भी दुःखी एवं ज्ञान स्वरूप होकर भी अज्ञानी, चैतन्य निराकार आत्मा होकर भी साकार जड़ शरीर मानता है । आत्मा सर्वाधिष्ठान होने पर भी मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शुद्र हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं सन्यासी हूँ इन उपाधियों में अपने को फंसाता है। कभी वह अपने को मूर्ख,

कभी पण्डित मानता है । मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं दुबला हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं काणा हूँ । मैं लंगड़ा हूँ, मैं कुठाड़ा हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं हिंजड़ा हूँ इस प्रकार मिथ्या अभिमान कर अपने में मनुष्य पना औढ़ कर आत्मस्वरूप को भूल जाता है । यह मेरी पत्नी, यह मेरा पति, यह मेरा पुत्र–पुत्री, मैं इसका छुआ नहीं ग्रहण करूँगा, यह शुद्र है, मैं ब्राह्मण हूँ । यह स्वजन है, यह दुर्जन है, इस प्रकार अवास्तविक भेद खड़ा कर लेता है और अपनी आत्म बुद्धि को अन्धा बना भव चक्कर में गोल गोल फिरा करता है ।

जब जीव किसी सद्गुरु की शरण में जाकर तन, मन, धन सर्वस्व अर्पण कर पूर्ण श्रद्धा, विश्वास कर गुरु उपदेश 'तत्त्वमसि' को हृदयंगम कर लेता है, तब पारसमणि के स्पर्श से जैसे लौह स्वर्ण हो जाता है इसी तरह यह मन अनात्मा से उलट कर आत्म सम्मुख हो जाता है । जैसे पशु घास खाकर उसका बागोल करता है, उसी तरह यह मन गुरु कृपा से सोऽहम् चिन्तन स्वाँस–स्वाँस में करता है । जैसे भ्रमरी इयल को बार बार चोंट मार कर मैं इयल नहीं हूँ, मैं भ्रमरी हूँ, मैं इयल नहीं, भ्रमरी हूँ, ऐसा उसकी बुद्धि में ठसा देती है तो अल्पकाल में वह इयल से भ्रमरी बना देती है । इसी तरह यह जीव गुरु उपदेश द्वारा बारम्बार तत्त्वमसि श्रवण कर, अहं ब्रह्मास्मि का दृढ़ निश्चय करलेता है और यह शुद्ध मन सोऽहम् चिन्तन कर 'मैं ब्रह्म हूँ' भाव में स्थिर हो जाता है ।

सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा अपने हृदय गुहा में नित्य विद्यमान है । **रसो वै सः ।** आनन्द किसी इन्द्रिय के विषय ग्रहण करने से मिलने वाली वस्तु नहीं है । आत्मा आनन्दघन होने से वह विषय निरपेक्ष है । मन विषयों के माध्यम से इन्द्रिय द्वारों से आत्मानन्द को ही ग्रहण करता है । किन्तु अज्ञानतावश उस आत्मानन्द को ही विषयानन्द मानता है । आनन्द किसी पदार्थ का गुण नहीं है, आनन्द

तो आत्मा का स्वरूप है । जैसे प्रत्येक प्रसिद्ध मिठाई अपने नाम से ग्रहण की जाती है परन्तु उन सभी प्रकार की मिठाईयों में एक मात्र चीनी की ही मधुरता रहती है, परन्तु ग्राहक चीनी को ही मिठाई नाम से ग्रहण करते हैं ।

जब जब वृत्ति शान्त होती है तब तब आनन्द स्वरूप आत्मा की झलक, प्रतिबिम्ब शान्त वृत्ति पर होने से मन आनन्दित होता है । जब किसी अन्य कामना के कारण अथवा प्रतिकूल अवस्था के कारण मन अशान्त होने से वृत्ति चंचल हो जाती है, तब प्राप्त आनन्द की अनुभूति नहीं होती है । अज्ञानी उस मनकी चंचल अवस्था के परिवर्तन से आनन्द चला गया, आनन्द नष्ट हो गया, इस प्रकार भ्रान्त धारणा कर लेता है । किन्तु आनन्द कहीं जाता नहीं, न कहीं से वह आता है । वृति ही अनुकूलता से शान्त एवं प्रतिकुलता से चंचल होती है । शांत वृत्ति में आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ता है एवं चंचल वृत्ति में आनन्द को ग्रहण करने की, आनन्द के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की क्षमता नहीं रहती है । परन्तु आनन्द तो अखण्ड अचल आत्मा का नित्य स्वभाव है ।

ज्ञान होने से प्राप्त की ही प्राप्ति होती है । किसी अप्राप्त की प्राप्ति ज्ञान मात्र नहीं होती है । आत्मा से पृथक् कोई अन्य है ही नहीं, सर्व परमात्मा ही है । कर्म द्वारा अप्राप्त की प्राप्ति रूप कल्पित पदार्थ होते है । साधन से प्राप्त होने से नाशवान् होते हैं तथा क्षणिक सुखाभास करानेवाले होते हैं ।

ज्ञानी प्रपंच में भी ब्रह्मज्ञान से सुखी बना रहता है । अज्ञान काल में ही जब संसार नहीं है तो ज्ञानकाल में तो दुःख रूप संसार कभी हो ही नहीं सकेगा । आनन्द स्वरूप परमात्मा की अखण्ड सत्ता में, संसार मानना ही दुःख का कारण है ।

जिस प्रकार तपे हुए लोह पर पानी की बुंद गिरने से तत्काल वह नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार यह जीवन क्षणभंगुर है बिजली के समान चंचल है । जिस प्रकार सर्प के मुंह में फंसा हुआ मेढ़क मुंह फाड़ मच्छरों को ताकता रहता है उसी प्रकार मनुष्य कालरूपी सर्प के मुंह में पड़ा हुआ अनित्य विषय भोगों को चाहता रहता है ।

कैसा आश्चर्य है कि इस क्षणिक जीवन के लिये ही मनुष्य रात दिन अत्यन्त कष्टों को सहकर नाना प्रकार की क्रियाएँ शरीर के भोगों के लिए करता रहता है । यदि मनुष्य यह समझले कि शरीर मुझ से भिन्न है, फिर भला वह कैसे शरीर के भोगों के लिए इतना कष्ट उठावेगा ? यह परिवार के सदस्य तो नदी में तैरती हुई एकत्रित लकड़ियों के समान या प्याउ पर एकत्रित हुए मनुष्यों के समान है । यह संसार जल तरंग के समान अनित्य हैं तथापि इसे पाकर अज्ञानी इन नाशवान् माया छाया वत् पदार्थों के प्रति बड़ा अभिमान करता है । मूढ़ जन ही इसको सत्य मानकर इसका अनुकरण करते हैं ।

नित्य ही, सूर्य के उदय अस्त की तरह, शरीर की आयु क्षीण हो रही है । दूसरों की वृद्धावस्था, रोग एवं मृत्यु देखकर भी मूढ़ पुरुष का शरीर, सम्बन्धी, धन, सम्पत्ति के प्रति वैराग्य वृत्ति उदय नहीं होती है । जन्म से मृत्यु साथ चल रही है और अन्त समय की प्रतिक्षा में है । किन्तु देह में अहं भाव करनेवाला व्यक्ति इस कृमि, विष्ठा और भस्म रूप शरीर को ही मैं मन्त्री हूँ, मैं राजा हूँ, मैं डायरेक्टर हूँ, मैं सेनापति हूँ, मैं करोड़पति हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, ऐसा मिथ्या अभिमान करता है । यह शरीर जो त्वचा, अस्थि, मांस, विष्ठा, मुत्र, शुक्र और रक्त से बना हुआ है विकारी और परिणामी है, वह देह आत्मा (मैं) कैसे हो सकता है ? इस देहाभिमान से ही सब दोष एवं पाप प्रकट होते हैं ।

'मैं देह हूँ' इस प्रकार की बुद्धि को ही अज्ञान अविद्या कहते हैं । मैं देह नहीं प्रत्युत चेतन आत्मा हूँ, इस प्रकार की बुद्धि को ही विद्या कहते हैं । अविद्या बन्धन रूप है एवं विद्या मुक्ति कारक है । अतः मुमुक्षुओं को आत्मविद्या प्राप्त करने के लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये ।

शुद्ध विचार से लक्ष्मणजी ने श्रीरामजी को साष्टांग प्रणाम करके अति विनीत भाव से कहा हे भगवन् ! आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये जिससे मैं सुगमता से अज्ञान रूप अपार समुद्र को पार हो जाऊँ । तब श्रीरामजी ने लक्ष्मण को उनके अज्ञान अन्धकार का नाश करने के लिये प्रसन्न चित्त से ज्ञान उपदेश करने लगे ।

हे लक्ष्मण ! चित्त शुद्ध हो जाने पर उन कर्मों को फल सहित त्याग कर, विवेक, वैराग्य, षट सम्पत्ति अर्थात् शम, दम, तितिक्षा, श्रद्धा, उपरामता, समाधानता सहित केवल मोक्षाभिलाषी को आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण ग्रहण करना चाहिये ।

कर्म तथा उपासना पुनर्जन्म का हेतु है, उन कर्म कर्ताओं को शुभाशुभ कर्मों के फल स्वरूप पुण्य–पाप, धर्म–अधर्म दोनों की ही प्राप्ति होती है और उन कर्मों के फल स्वरूप उन जीवों को अनुरूप शरीर प्राप्त होता है । जिससे फिर नूतन कर्म होते हैं क्योंकि कोई भी जीव एक क्षण के लिये कर्म किये बिना नहीं रह सकता है, इसीलिये यह जीव का संसार चक्र चलता रहता है ।

संसार का मूल कारण अज्ञान है और अज्ञान का नाश करने में ज्ञान ही समर्थ है । कर्म, उपासना द्वारा अज्ञान का नाश नहीं हो सकता । क्योंकि अज्ञान से उत्पन्न कर्म अपने उपादान कारण अज्ञान का नाश नहीं कर सकता । अतः कर्म तथा जन्म–मरण का कारण जान अज्ञान की त्याग कर बुद्धिमान को ज्ञान विचार में ही तत्पर होना

चाहिये । इसलिये समस्त इन्द्रियोंके विषयों से उपराम होकर निरन्तर आत्म अनुसन्धान में लगा हुआ बुद्धिमान पुरुष सम्पूर्ण कर्म, उपासना का सर्वथा त्याग करदे । क्योंकि विद्या का विरोधी होने के कारण कर्म का ज्ञान के साथ समुच्चय नहीं हो सकता । क्योंकि 'मैं ब्रह्म हूँ' यह विद्या का फल है तथा 'मैं दास हूँ' कोई अन्य ईश्वर मेरे कर्मों का फल दाता है, यह अविद्या का फल है । इस प्रकार अद्वैत भाव व द्वैत भाव का एक अन्तःकरण में ठहराव नहीं हो सकता । नेति–नेति वाक्यों से सम्पूर्ण अनात्म वस्तुओं का निषेध करके अपने परमार्थ स्वरूप को जानलेने पर फिर उसे समस्त कर्मों को छोड़ देना चाहिये । '**तस्य कार्यं न विद्यते**' गीता : ३/१७

इसलिये ज्ञान स्वतन्त्र है उसे जीव के मोक्ष के लिये किसी और कर्म, उपासना, याग, यज्ञादि साधनों को करने की अपेक्षा नहीं है । वह स्वयं अकेला ही उस अज्ञान को नष्ट करने में समर्थ है । जैसे घर का घोर अन्धकार या पृथ्वी का अन्धकार एक मात्र दीपक या सूर्य द्वारा ही समाप्त होता है, उसके अतिरिक्त करोड़ों साधन व्यर्थ परिश्रम मात्र ही होते हैं ।

अज्ञानी साधक सोचता है कि मैं अमुक कर्म, उपासना, पूजा, पाठ, मन्त्र, त्याग कर दूँगा तो मुझे पाप लगेगा या मेरा सभी शुभ कर्म नष्ट होकर मेरा अनिष्ट हो जावेगा । ऐसी अनात्म बुद्धि अज्ञानियों को हुआ करती है, आत्मज्ञानीयों को इस प्रकार भ्रान्ति नहीं हुआ करती है ।

अतः शुद्ध चित्त होकर श्रद्धा पूर्वक किसी सद्‌गुरु की कृपा से 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का श्रवण कर, परमात्मा व जीवात्मा की एकता जानकर सोऽहम् भाव में दृढ़ निष्ठा कर जीवन्मुक्ति लाभ करें । इस जीव ब्रह्म की एकता में होने वाला सन्देह को दूर करने के लिये साधक को लक्षणा विधिका प्रयोग करना होगा । लक्षणा के तीन भेद होते हैं (१) जहती (२) अजहती (३) भाग–त्याग ।

लक्षणा : जहाँ शब्दों के वाच्यार्थ को छोड़कर दूसरा अर्थ लिया जाता है वहाँ लक्षणा वृत्ति होती है । वह तीन प्रकार के होते हैं ह्न जहती, अजहती और भाग–त्याग ।

जहती लक्षणा में शब्द के वाच्यार्थ का सर्वदा त्याग करके उसका बिलकुल नया अर्थ किया जाता है । जैसे गंगाजी पर पशु शाला है । इस वाक्य के वाच्यार्थ से गंगा प्रवाह में पशुशाला का होना प्रकट होता है । परन्तु जल प्रवाह में पशुशाला होना सर्वथा असम्भव है । इसलिये यहाँ गंगा प्रवाह अर्थ न लेकर गंगा तट अर्थ लिया जाता है । अब इस जहती लक्षणा से तत्त्वमसि महावाक्य का प्रयोग करने से तत और त्वम् पद दोनों को त्याग करदेने से उन दोनों की चेतना का ही त्याग हो जाता है और हमें तो चेतना की एकता ही अभिष्ट है, इसलिये जहती लक्षणा से इस तत व त्वम् पद की एकता नहीं हो सकती ।

अब **अजहती लक्षणा** में वाच्यार्थ का त्याग नहीं किया जाता है बल्कि उसके अन्य सम्बन्धी अर्थ भी ग्रहण किया जाता है । जैसे कुत्ते से दही का बचाना । यहाँ कुत्ते के साथ बिल्ली–मक्खी आदि का भाव भी ग्रहण किया जाता है । यहाँ तो तत्त्वमसि महावाक्य में तत् त्वम् पद के वाच्यार्थ में विरोध है उसके अतिरिक्त अन्य बाहरी अर्थ को और जोड़ देने से विरोध तो दूर होगा ही नहीं, इसलिये अजहती लक्षणा से भी महावाक्य के तत्पद तथा त्वम्पद की एकता 'वह तू है' सिद्ध नहीं होती है ।

अब तीसरी लक्षणा **भाग–त्याग** है। इसमें अविरोधी अंश को रखकर विरोधी अंश का त्याग करदिया जाता है । जैसे सोऽयं, यह वही है । इस वाक्य में अयं पद से कहे जाने वाले पदार्थ की अपरोक्षता और 'सः' पद के वाच्यार्थ की परोक्षता का त्याग कर इन दोंनों से रहित जो निर्विशेष पदार्थ है, उसकी एकता कही जाती है । इसी प्रकार तत्त्वमसि महावाक्य के तत् पद के वाच्यार्थ ईश्वर के गुण,

सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमानता, परोक्षता, आनन्दता, मुक्तता, एकता, ज्ञान, असंग, शुद्ध, व्यापक, अधिष्ठान, अविनाशी, स्वयंप्रकाश, अविकारी, मायाधीश, अनावृत, अपरिच्छिन्नता का और जीव के त्वम् पद के वाच्यार्थ जीव के गुण अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, बद्धता, दुःख, परप्रकाश, विकारी, आवृत, व्याप्य, विनाशी, अध्यस्त, अशुद्ध, परिच्छिन्नता, अनेकता, अपरोक्षता आदि का त्याग कर चेतन अंश ईश्वर साक्षी परमात्मा एवं जीव साक्षी आत्मा में एकता ग्रहण की जाती है ।

‘**बड़े भाग्य मानुष तन पावा**’

पानेवाला जीवात्मा है तथा प्राप्त होने वाला यह मानव शरीर है । जीवात्मा सनातन, अविनाशी है, देह नाशवान है । **अन्तवन्त इमे देहा** (२/१८) । प्राप्त का नाश, संयोग का वियोग, जन्म की मृत्यु अवश्य ही है । आत्मा कभी मरता नहीं, देह कभी सदा रहता नहीं । अतः दोनों के लिये चिन्ता करना अज्ञान ही है ।

अतः विचार करना चाहिये कि मैं देह से पृथक् नित्यात्मा हूँ या मैं देह से पृथक् प्रथम से न होता तो यह देह की प्राप्ति किसे होगी ?

‘खादते मोदते नित्यं, शुनकः सूकरः खरः
तोषामेषां विशेषो का, पृत्तिये मा तु तादृशी

खाना, पीना, सोना तथा अपने बच्चों का प्यार तो कुत्ते, सुअर, गधे भी हँसते हुए, भोगते हुए जीवन व्यतीत करलेते हैं। यदि इसी प्रकार मनुष्य जीवन व्यतीत करें तो सुअर, कुत्ता व गधे में और मानव में अन्तर ही क्या है ? कुछनहीं । मनुष्य जीवन की महत्ता तो आत्मज्ञान प्राप्तकर मुक्ति पाने हेतु है ।

भृगुवल्ली

भृगु नाम से प्रसिद्ध एक ऋषि थे, जो वरूण के पुत्र थे । उनके मनमें परमात्मा को जानने और प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा हुई, तब

वे अपने पिता वरुणजी के पास गये । उनके पिता वरूण वेदको जाननेवाले, ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष थे, अतः भृगुको किसी दूसरे आचार्य के पास जाने की आवश्यकता नहीं हुई । अपने पिताके पास जाकर भृगुने इस प्रकार प्रार्थना की– 'भगवन् ! मैं ब्रह्मको जानना चाहता हूँ, अतः आप कृपा करके मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये ।' तब वरूणने भृगुसे कहा **'तात ! अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाणी – ये सभी ब्रह्मकी उपलब्धि के द्वार हैं । इन सब में ब्रह्मकी सत्ता स्फुरित हो रही है ।'** साथ ही यह भी कहा – **'ये प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले सब प्राणी जिनसे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिनके संयोग से, जिनका बल पाकर ये सब जीते हैं – जीवनोपयोगी क्रिया करने में समर्थ होते हैं और महाप्रलयके समय जिनमें विलीन हो जाते हैं, उनको वास्तव में जानने की (पाने की) इच्छा कर । वे ही ब्रह्म है ।'** इस प्रकार पिताका उपदेश पाकर भृगु ऋषिने ब्रह्मचर्य और शम–दम आदि नियमों का पालन करते हुए तथा समस्त भोगोंके त्यागपूर्वक संयम से रहते हुए पिता के उपदेश पर विचार किया । यही उनका तप था ।

इस प्रकार विचार रूपी तप करके उन्होंने क्या किया, यह बात आगे कही गयी है ।

भृगुने पिताके उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि अन्न ही ब्रह्म है, क्योंकि पिताजीने ब्रह्मके जो लक्षण बताये थे, वे सब अन्नमें पाये जाते हैं । समस्त प्राणी अन्नसे–अन्नके परिणामभूत वीर्य से उत्पन्न होते हैं, अन्नसे ही उनका जीवन सुरक्षित रहता है और मरने के बाद अन्नस्वरूप इस पृथ्वी में ही प्रविष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार निश्चय करके वे पुनः अपने पिता वरूण के पास आये ।

आकर अपने निश्चय के अनुसार उन्होंने सब बातें कहीं । पिताने कोई उत्तर नहीं दिया । उन्होंने सोचा – 'इसने अभी ब्रह्मके स्थूल रूपको ही समझा है, वास्तविक रूप तक इसकी बुद्धि नहीं गयी

है, अतः इसे तपस्या करके अभी और विचार करनेकी आवश्यकता है । पर जो कुछ इसने समझा है, उसमें इसकी तुच्छ बुद्धि कराकर अश्रद्धा उत्पन्न कर देनेमें भी इसका हित नहीं है, अतः इसकी बात का उत्तर न देना ही ठीक है ।' पितासे अपनी बातका समर्थन न पाकर भृगुने फिर प्रार्थना की – 'भगवन् ! यदि मैंने ठीक नहीं समझा है तो आप मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये ।'

तब वरूणने भृगु को कहा – 'तू विचार रूपी तपके द्वारा ब्रह्मके तत्त्वको समझनेकी कोशिश कर । यह तप ब्रह्म का ही स्वरूप है, अतः यह उनका बोध करानेमें सर्वथा समर्थ है ।' इस प्रकार पिता की आज्ञा पाकर भृगु ऋषि पुनः पहलेकी भाँति तपोमय जीवन बिताते हुए पितासे पहले सुने हुए उपदेशके अनुसार ब्रह्मका स्वरूप निश्चय करने के लिये विचार करते रहे क्योंकि अनित्य कर्मों के द्वारा नित्यप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है । साधन साध्य सभी लोक, वस्तु, सिद्धि नाशवान् होती है । नित्यसिद्ध आत्मवस्तु की अनुभूति तो एकमात्र विचार द्वारा ही सम्भव होती है। इस प्रकार विचार रूपी तप करके उन्होंने क्या किया, यह बात आगे कही गयी है ।

भृगु पिताके उपदेशानुसार तपके द्वारा यह निश्चय किया कि प्राण ही ब्रह्म है; उन्होंने सोचा, पिताजी द्वारा बताये हुए ब्रह्मके लक्षण प्राणमें पूर्णतया पाये जाते हैं । समस्त प्राणी प्राणसे उत्पन्न होते हैं, अर्थात् एक जीवित प्राणीसे उसीके सदृश दूसरा प्राणी उत्पन्न होता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है; तथा सभी प्राण से ही जीते हैं । यदि श्वासका आना-जाना बन्द हो जाय, यदि प्राण द्वारा अन्न ग्रहण न किया जाय तथा अन्नका रस समस्त शरीरमें न पहुँचाया जाय तो कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता और मरने के बाद सब प्राणमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं । यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मृत शरीरमें प्राण नहीं रहते; अतः निःसन्देह प्राण ही ब्रह्म है, यह निश्चय करके वे पुनः अपने पिता

वरुणके पास गये । पहले की भाँति अपने निश्चय के अनुसार उन्होंने पुनः पिता से अपना अनुभव निवेदन किया । पिताने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया । उन्होंने सोचा कि यह पहले की अपेक्षा तो कुछ सूक्ष्मतामें पहुँचा है; परंतु अभी बहुत कुछ समझना शेष है; अतः उत्तर न देना ही ठीक है । क्योंकि उत्तर न देनेसे अपने–आप इसकी जिज्ञासामें बल आयेगा; पिताजीसे अपने बातका समर्थन न पाकर भृगुने फिर उनसे प्रार्थना कि – 'भगवन् ! यदि अब भी मैंने ठीक न समझा हो तो आप ही कृपा करके मुझे ब्रह्म का तत्त्व समझाइये ।' तब वरुणने पुनः वही बात कही – 'तू विचार रूपी तपके द्वारा ब्रह्मको जानने की चेष्टा कर; यह तप ही ब्रह्म है, अर्थात् ब्रह्मके तत्त्वको जानने का यही प्रधान साधन है ।' इस प्रकार पिताजी की आज्ञा पाकर भृगु ऋषि फिर उसी पर विचार करते रहे । तपस्या करके उन्होंने क्या निर्णय किया, यह आगे बताया गया है ।

इस बार भृगुने पिताके उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि **मन ही ब्रह्म है**; उन्होंने सोचा, पिताजी के बताये हुए ब्रह्मके सारे लक्षण मनमें पाये जाते हैं । मनसे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं – स्त्री और पुरुषके मानसिक प्रेमपूर्ण सम्बन्ध से ही प्राणी बीज रूपसे माताके गर्भमें आकर उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर मन से ही इन्द्रियों द्वारा समस्त जीवनोपयोगी वस्तुओं का उपभोग करके जीवित रहते हैं और मरने के बाद मनमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं – मरने के बाद इस शरीर में प्राण और इन्द्रियाँ नहीं रहती, इसलिये मन ही ब्रह्म है । इस प्रकार निश्चय करके वे पुनः पहलेकी भाँति अपने पिता वरुण के पास गये और उन्होंने अपने अनुभवकी बात पिताजी को सुनायी । इस बार भी पिता से कोई उत्तर नहीं मिला । पिताने सोचा कि यह पहले की अपेक्षा तो गहराईमें उतरा है, परंतु अभी इसे और भी गहराई से विचार करना चाहिये; अतः उत्तर न देना ही ठीक है । पितासे अपनी बातका उत्तर न पाकर भृगुने पुनः पहलेकी भाँति प्रार्थना की – 'भगवन् ! यदि मैंने ठीक न समझा हो तो

कृपया आप ही मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये ।' तब वरुणने पुनः वही उत्तर दिया – 'तू विचार रूपी तपके द्वारा ब्रह्मके तत्त्व को जानने की इच्छा कर । यह विचार रूप तप साधन ही ब्रह्म है । '**वस्तुसिद्धि विचारेण न किञ्चित्कर्म कोटिभिः**' ब्रह्म को जानने का इससे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं हैं । इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर भृगुने पुनः पहले की भाँति संयमपूर्वक रहकर पिताके उपदेश पर विचार किया ।

विचार करके उन्होंने यह निश्चय किया कि – **यह विज्ञानस्वरूप चेतन जीवात्मा ही ब्रह्म है;** भृगु ने सोचा – पिताजी ने जो ब्रह्मके लक्षण बताये थे, वे सब–के–सब पूर्णतया इसमें पाये जाते हैं । ये समस्त प्राणी जीवात्मासे ही उत्पन्न होते हैं, सजीव चेतन प्राणियों से ही प्राणियों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है । उत्पन्न होकर इस विज्ञानस्वरूप जीवात्मासे ही जीते हैं; यदि जीवात्मा न रहे तो ये मन, इन्द्रियाँ, प्राण आदि कोई भी शरीर में नहीं रह सकते और कोई भी अपना काम नहीं कर सकते तथा मरने के बाद ये मन आदि सब जीवात्मा में ही प्रविष्ट हो जाते हैं – जीव के निकल जानेपर मृत शरीरमें यह सब देखनेमें नहीं आते । अतः विज्ञानस्वरूप जीवात्मा ही ब्रह्म है । यह निश्चय करके वे पहलेकी भाँति अपने पिता वरुण के पास आये ।

आकर उन्होंने अपने निश्चित अनुभवकी बात पिताजी को सुनायी । इस बार भी पिताजीने कोई उत्तर नहीं दिया । पिताने सोचा– इस बार यह बहुत कुछ ब्रह्मके निकट आ गया है, इसका विचार स्थूल और सूक्ष्म–दोनों प्रकारके जड तत्त्वोंसे ऊपर उठकर चेतन जीवात्मा तक तो पहुँच गया है । परन्तु ब्रह्मका स्वरूप तो इससे भी विलक्षण है, वे तो नित्य आनन्द स्वरूप एक अद्वितीय परमात्मा हैं । इसे अभी और तपस्या करनेकी आवश्यकता है, अतः उत्तर न देना ही ठीक है ।' इस प्रकार बार–बार पिताजीसे कोई उत्तर न मिलनेपर भी भृगु हतोत्साह या निराश नहीं हुए । उन्होंने पहले की भाँति पुनः पिताजी से वही प्रार्थना की – 'भगवन् । यदि मैंने ठीक न समझा हो तो आप मुझे ब्रह्मका

रहस्य बतलाइये ।' तब वरुणने पुनः वही उत्तर दिया – 'तू विचार रूपी तपके द्वारा ही ब्रह्मके तत्त्वको जानने की इच्छा कर । अर्थात् तपस्यापूर्वक उसका पूर्व कथनानुसार विचार कर । ज्ञान तप ही ब्रह्म है ।' इस प्रकार पिताजी की आज्ञा पाकर भृगुने पुनः पहले की भाँति संयमपूर्वक रहते हुए पिताके उपदेश पर विचार किया । विचार करके उन्होंने क्या किया, यह आगे बताया गया है ।

इस बार भृगुने पिताके उपदेश पर गहरा विचार करके यह निश्चय किया कि आनन्द ही ब्रह्म है । ये आनन्दघन परमात्मा ही अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञान मय, आनन्दमय आदि सबके अन्तरात्मा है । वे सब भी इन्हींके स्थूलरूप हैं । इसी कारण उनमें ब्रह्म बुद्धि होती है और ब्रह्मके आंशिक लक्षण पाये जाते हैं । परन्तु सर्वांशसे ब्रह्मके लक्षण आनन्द में ही घटते हैं, क्योंकि ये समस्त प्राणी उन आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा से ही सृष्टिके आदि में उत्पन्न होते हैं – इन सबके आदि कारण तो वे ही हैं तथा इन आनन्दघनके आनन्दका लेश पाकर ही ये सब प्राणी जी रहे हैं – कोई भी दुःखके साथ जीवित रहना नहीं चाहता । इतना ही नहीं उन आनन्दघन सर्वान्तर्यामी परमात्माकी अचिन्त्यशक्ति की प्रेरणासे ही इस जगत्के समस्त प्राणियों की सारी चेष्टाएँ हो रही है । उनके शासनमें रहनेवाले सूर्य, पवन, जल आदि यदि अपना–अपना काम न करें तो एक क्षण भी कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता । सबके जीवनाधार सचमुच वे आनन्दस्वरूप परमात्मा ही हैं तथा प्रलयकाल में समस्त प्राणियों से भरा हुआ यह ब्रह्माण्ड उन्हींमें प्रविष्ट होता है– उन्हींमें विलीन होता है, वे ही सब प्रकारसे सदा–सर्वदा सबके आधार हैं । इस प्रकार अनुभव होते ही भृगु को परब्रह्म का यथार्थ ज्ञान हो गया ! फिर उन्हें किसी प्रकार की जिज्ञासा नहीं रही ।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।।

मुण्डक.द्वितीय खण्ड ३/१/८

परमात्मा को तो सदा श्रेष्ठ अन्तःकरण वाले विवेक विचारशील ज्ञानी ही ज्ञान नेत्र द्वारा देख सकता है । वह नेत्र, वाणी तथा अन्य किसी इन्द्रिय साधन से ग्रहणीय नहीं है अथवा हठयोग रूप तप द्वारा भी ग्रहण नहीं किया जा सकता है । इसके लिये तो विचार रूप साधन ही एकमात्र कर्तव्य है ।

यह वरुणद्वारा बतायी हुई और भृगुको प्राप्त हुई ब्रह्मविद्या है । जो कोई मनुष्य भृगुकी भाँति तपस्यापूर्वक इसपर विचार करके परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्माको जान लेता है, वह भी उन विशुद्ध परमानन्दस्वरूप परमात्मामें स्थित हो जाता है ।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेत् । अहं ब्रह्मास्मीति । सत्मात्तत्सर्वमभवक्तयो यो देवानं प्रत्यबुध्यत स एव तदभमत्तथर्षीणो तथा मनुष्याणां तद्धेतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेऽहं ब्रह्मास्मीति त इदँसर्व भवति तत्य ह न देवाश्न नाभूत्या ईशते । आत्मा ह्येषाँस भवति । १/४/१० बृहदा.

पहले यह ब्रह्म ही था; उसने अपने को ही जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ' । अतः वह सर्व हो गया । उसे देवोंमें से जिस–जिसने जाना वही तद्रुप हो गया । इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्यों में से भी जिसने उसे जाना वह तद्रुप हो गया। उस अखण्ड, सर्वव्यापक ब्रह्म को आत्म स्वरूप से देखते हुए ऋषि वामदेवने जाना – 'मैं मनु हुआ, और सूर्य भी' उस इस ब्रह्म को इस समय जो भी इस प्रकार सद्गुरु द्वारा वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन का विचार कर जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह यह सर्व हो जाता है ।

उत्तमा तत्त्वचिन्तैव मध्यमं शास्त्रचिन्तनम् ।
अधमा मन्त्र चिन्ता च तीर्थ भ्रान्त्यधमाधमा ।।

२/२१ मैत्रेय उप.

तत्त्व चिन्तन सबसे उत्तम है । शास्त्र चिन्तन मध्यम श्रेणी का है, मन्त्र चिन्तन अधम श्रेणी का है और तीर्थों में भ्रमण करना अधम से भी अधम श्रेणी का है । अतः परमार्थ के पथिकों को अन्य बाह्य साधनों में बन्धे नहीं रहना चाहिये बल्कि तत्त्व ज्ञान प्राप्ति के लिये ही निरन्तर आत्म विचार करना चाहिये ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ।।

९/२ : गीता

हे अर्जुन ! यह ज्ञान जो मैं तुझे कहने जा रहा हूँ, यह सब विद्याओं का राजा अर्थात् श्रेष्ठ है तथा विश्व में जो कुछ भी छुपाने योग्य वस्तु या बात है, उससे भी अधिक गोपनीय यह ज्ञान है । संसार में जो कुछ भी तीर्थ, मन्दिर, मूर्ति एवं गंगा, यमुना, सरस्वती आदि पवित्र कहलाने वाले स्थान हैं, उनसे भी अधिक यह ब्रह्म विद्या पवित्रतम है । संसार में यज्ञादि कर्म का फल शास्त्र द्वारा माना जाता है किन्तु इस ब्रह्मविद्या का फल अग्नि उष्णवत्, बर्फ शीतलवत्, चीनी मधुरवत् प्रत्यक्ष एवं तत्काल फल रूप है । यह विद्या धर्म युक्त और केवल श्रवण द्वारा ही सुगम एवं नित्य फल रूप है ।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।

१४/२ : गीता

हे अर्जुन ! इस ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने वाला ज्ञानी पुरुष अपने को 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही कारण कार्य रूप ब्रह्म हूँ ऐसा जान लेता है । ऐसा जानने वाला न तो प्रलय काल के भयंकर अग्नि व जल प्रवाह को देख डरता है, न पुनः सृष्टि काल में आता है । अर्थात् आत्म निष्ठ पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता है ।

अध्यात्मज्ञाननित्वत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।

१३/११ : गीता

जिस साधक का मन आत्मज्ञान में सर्वदा लगा रहता है और जीव ब्रह्म एकत्व रूप सर्वत्र दर्शन करता रहता है, वह तो ज्ञानी है और जो जीव ब्रह्म के प्रति भेद भ्रान्ति मन में रखता है और अन्य देवी देवता की उपासना करता है वह सब अज्ञानी के लक्षण है ।

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः ।
सूतकद्वयसंप्राप्तो कथं सन्ध्यामुपास्महे ।।

२/१३ मैत्रय. उप.

जिसके मोह रूप माँ मरगई और ज्ञान रूप पुत्र उत्पन्न हुआ है, उसको तो मरण एवं जन्म के दो दो सूतक लगेहुए हैं । तो फिर सन्ध्या वन्दन आदि कर्म, उपासना कैसे करें ? ऐसी अवस्था में विचार ही एक मात्र मार्ग है ।

सद्गुरु उपदेश द्वारा विवेक, वैराग्यादि साधन सम्पन्न अधिकारी 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा जो निज आत्मा को ब्रह्म रूप जानने योग्य है । जिसको मैं रूप से अर्थात् आत्मा रूप से जानकर जीव अपने परमानन्द स्वरूप को प्राप्त होता है । वह तत्त्व आदि व अन्त रहित है अर्थात् अनादि, अनन्त परमब्रह्म जाति, गुण, क्रिया व सम्बन्ध रहित होने से उसे न सत न असत ही कहा जा सकता है । इस प्रकार कोई दैवी सम्पदा वाला ही परमात्मा को जानने का अधिकारी हो पाता है ।

परमात्मा अचिन्त्य

सहज भक्ति उसे कहते हैं जिसमें किसी प्रकार के देश, काल, वस्तु जैसे कि चन्दन, पत्र, पुष्प, जल, धूप, दीप, भोग, वस्त्र, आसन, प्रार्थना, उच्चारण, वाद्य, मूर्ति, समय, स्थान की अपेक्षा न हो ।

भगवान, आत्मा निराकार व सहज है, जो सबको सर्वदा बिना साधन के, बिना किसी अपेक्षा, नियम के उपलब्ध ही है । इसलिये उनकी भक्ति भी सहज है । जिस भक्ति में स्मरण, ध्यान, जप, प्रार्थना, ध्येय मूर्ति की अपेक्षा न हो वह सहज भक्ति है ।

स्मरण, ध्यान, जप, सदा अन्य का किया जाता है । जिस भक्ति में अरे ! यह तुमने क्या किया, ऐसा तो नहीं करना चाहिये था समझो वह सहज भक्ति नहीं है । इस प्रकार की जहाँ अटक, खटक न हो वही सहज भक्ति है । जहाँ गोबर लेपन करना हो, गंगाजल छिड़कना हो, भूमी पूजन, चन्दन छिड़कना हो, मल–मूत्र गन्दगी न हो फिर पूजा, आरती, ध्यान किया जाता हो, वह सहज भक्ति नहीं है । अरे ! जो अखण्ड सर्व व्यापक है उसके लिये सीमा, नियम, संयम कैसा ? परमात्मा अखण्ड सत्ता होने से उसकी पूजा में देश, काल, वस्तु का चुनाव कैसा ?

व्यावहारिक दृष्टि से ब्राह्मण, जिसे माना जाता है, वह सोते, जागते, स्नान के पूर्व–पश्चात्, मल–मूत्र के त्यागते समय भी ब्राह्मण ही माना जाता है । ब्राह्मण ब्राह्मण ही रहता है यदि वह नशे में अपने को पतित, चाण्डाल, चमार, भंगी, शुद्र मानता है तो भी वह ब्राह्मण ही बना रहता है। इसी प्रकार तुम प्रत्येक कार्य के समय, अवस्था के

समय, दुःख–सुख के समय परमात्मा ही रहते हो । तुम चाहे बोलते रहो या मौन रहो, सोओ या जागो, कर्म करो या न करो, तुम्हारा कभी अभाव नहीं होता । तुम्हारी ब्रह्मता ज्यों की त्यों निर्मल, अचल, पवित्र कुंवारी ही बनी रहती है । हंसते भी मैं, नाचते भी मैं, गाते भी मैं, रूठूँ तो मैं, रोऊँ तो मैं, जब मुझ आत्मा के सिवा अन्य कुछ भी नहीं तब कौन किस के लिये क्रिया करें ? क्रिया का अभाव ही है, इन्द्रिय, मन, बुद्धि का भी अभाव है किन्तु मैं आत्मा सदा रहता हूँ । यही सहज समाधि है, सहज भक्ति है ।

जिस भक्ति के लिये मन निरोध की जरूरत न हो उसे सहज भक्ति कहते हैं । जिस भक्ति में अन्य का चिंतन न हो उसे ही अनन्य चिंतन अनन्य भक्ति कहते हैं । मैं आत्मा का चिंतन सर्व कालमें, सर्व विषय ज्ञानमें, मैं की उपस्थिति अनिवार्य रहती ही है । सर्वाधिष्ठान मुझ आत्मा का अभाव कभी नहीं होता है । जो चिंतन सर्वभाव में होता है वही चिंतन सर्वकालीन होता है और जो परभाव का चिंतन होता है, वह कभी होता है, कभी नहीं होता वह सहज अनन्य चिन्तन नहीं है ।

अनन्य चिन्तन किसका ?

जो चित्त द्वारा चिन्तन होता है वह आत्मा का चिन्तन नहीं हो सकता । परमात्मा अचिन्त्य है । अचिन्त्य का चिन्तन मन से नहीं हो सकता । अपने आत्म स्वरूप को गीता में कहा है–

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽहमविकार्योऽयमुच्यते ।२/२५ गीता

यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकार रहित कहा जाता है ।

अब चिन्तन, स्मरण, ध्यान, स्मृति किसका करोगे ? स्मरण, चिन्तन, याद, ध्यान–सदा अपने से भिन्न दूसरे का ही किया जा सकता है जिसको हम पहले से जानते हैं । अनजान, अनदेखे व्यक्ति का ध्यान, चिन्तन कभी सम्भव नहीं हो सकता । ध्यान का आधार,

वस्तु का होना है एवं आत्मानुसंधान सत्य का अन्वेषण है । अन्वेषण का आधार आत्म सत्ता है । दृष्टि को दृश्य से उलटकर अहं विचार के मूल को ढूँढ निकालिये तब केवल आत्मा शेष रहेगा, जो तुम हो । क्या आप यह नहीं समझ पा रहे हैं कि आप आप हैं ? क्या घर में बैठे व्यक्ति को घर में प्रवेश होने की राह बताना पड़ेगी ? मैं सच्चिदानन्द आत्मा हूँ यही चिन्तन निरन्तर हो सकता है, क्योंकि मैं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, ध्यान, समाधि अवस्थाओं में उनका साक्षी सदा एकरस रहता हूँ, यह सब अवस्थाएँ आती–जाती है। मुझ आत्मा के अलावा कोई अन्य वस्तु नहीं जो तीनों कालों में समान रूप से रहती हो । मैं अखण्ड, नित्य, मुक्त सच्चिदानन्द आत्मा हूँ, तब जप व ध्यान मैं किसका करूँ ? **मैं के अतिरिक्त अन्य कुछ भी न देखना, यही आत्म दर्शन है । मैं के अतिरिक्त कुछ अन्य न जानना ही आत्म ज्ञान है ।**

जब तक आत्मा को मैं रूप से नहीं जान लोगे, तब तक उसका नित्य स्मरण भी नहीं हो सकेगा । क्या कोई ऐसा समय है, जब मैं न रहूँ, क्या ऐसा कोई देश है, जहाँ मैं नहीं हूँ, क्या ऐसा कोई वस्तु है जो मेरे बिना सिद्ध हो सके ? अरे ! परमात्मा भी मेरे बिना सिद्ध नहीं हो सकता, अन्य पदार्थ की तो बात ही क्या । भूलने में भी मेरी उपस्थिति नित्य ही बनी रहती है अन्यथा उस भूलजाने की खबर कौन देता है ?

मुझे चिन्तन करना है, मैं चिन्तन करने बैठा हूँ । यह चिन्तन सर्व काल का चिन्तन नहीं है । जो चिन्तन सर्वभाव में होता है वही चिन्तन सर्वकाल वाला चिन्तन है । जो परभाव में चिन्तन होता है वह सर्व काल नहीं होता । आत्मा नित्य है इसलिये उसका चिन्तन भी मैं रूप में निरन्तर होता ही रहता है । सबको भूल व याद करने में मैं तो प्रत्यक्ष प्रथम ही रहता हूँ । मैं के बिना किसी की याद करना या भूलना सम्भव नहीं है । अतः मैं भाव या आत्मा भाव में जो चिन्तन होता है वही चिन्तन नित्य सर्वकालीन है । परभाव वाला चिन्तन कभी निरन्तन नहीं हो सकता ।

जीव का जो यह विकल्प था कि मैं आत्मा से पृथक् हूँ एवं साधन करके कुछ काल बाद उसे प्राप्त कर लूँगा । बस इसी विकल्प को सद्गुरु दूर करके जीव को उसके नित्य सिद्ध, नित्य प्राप्त आत्म स्वरूप में स्थित कर देते हैं कि तुम जिसे पाना चाहते हो, वह तुम स्वयं हो एवं जहाँ पहुँचना चाहते हो वहाँ तुम प्रथम से ही खड़े हो । अर्थात् जो तुम हो, जहाँ तुम हो वहाँ ज्यों के त्यों पूर्ण हो । किसी साधन भजन की जरूरत नहीं है ।

मुझ आत्मा के चिन्तन का मन से तो कोई सम्बन्ध ही नहीं है । जिस वक्त चित्त लय एवं विक्षिप्त न हो उस अवस्था का नाम सहज समाधि, सहज ध्यान की स्थिति है । लय होने पर तो निद्रा में चला जावेगा और विक्षेप अवस्था में तो एकाग्रता के अभाव में सुन ही नहीं सकेगा । इस प्रकार लय–विक्षेप इन दोनों अवस्था से रहित उस ब्राह्मी अवस्था में निष्ठा करें कि वह अचल साक्षी आत्मा मैं हूँ ।

प्रत्येक जीव कोई भी व्यवहारिक कार्य निज स्वरूप में स्थित होकर ही करते हैं । 'मैं हूँ' यही आत्मा का सर्वकाल का चिन्तन है । यही आत्मा का स्वभाविक चिन्तन है । अपने आत्मा को द्रष्टा, सत, चित, आनन्द, साक्षी, ब्रह्म आदि मानकर जो चिन्तन किया जाता है वह स्वभाविक चिन्तन नहीं है । 'मैं हूँ' यह चिन्तन सर्वकाल में होता रहता है । अपना विस्मरण किसी काल में नहीं होता है। अपने को कुछ अन्य मानकर जो चिन्तन होता है, वह परभाव का चिन्तन है ।

हे आत्मन् ! आत्मा अखण्ड है, वह सर्व देश, सर्व काल, सवत्र व्याप्त है उसका एक स्थान पर हृदय देश या भ्रुमध्य में ध्यान करना कैसे सम्भव होगा ? आकाश को जैसे मुठ्ठी में बांधना सम्भव नहीं, इसी प्रकार एक स्थान पर आत्मा का ध्यान करना सम्भव नहीं । दूसरी बात आत्मा किसी को अप्राप्त नहीं, स्वयं सिद्ध आप ही आत्मा है, तब उसे अन्य मानकर उसकी धारणा या ध्यान करना भी अज्ञान एवं बन्धन है । जिसे सद्गुरु की कृपा से यह बोध होगया कि मैं आत्मा

हूँ उसे फिर अपने आत्मा होने के लिये साधन की जरूरत भी क्या ? सूरदास को भी अपने होने के लिये क्या सूर्य, चन्द्र, बिजली, दीपक की जरूरत होगी या किसी से पूछकर जानना होगा, विश्वास करना होगा, श्रद्धा करना होगा कि मैं हूँ या नहीं, मैं खड़ा हूँ या बैठा हूँ सोया हूँ या जागा हुआ हूँ, सुखी हूँ या दुःखी हूँ, भूखा हूँ या तृप्त हूँ, रोगी हूँ या स्वस्थ हूँ । जैसे सूर्य को देखने के लिये अन्य प्रकाश की जरूरत नहीं इसी प्रकार अपने आत्मा होने के लिये अन्य ध्यानादि साधन की जरूरत नहीं ।

चलन चलन सब कोई कहे मोहि अंदेसा ओर ।
प्रभु से तो परिचय नहीं पहुँचेंगे किस ठौर ।।

यदि किसी को मैं आत्मा होने की श्रद्धा नहीं तब तो उसे ध्यान करना भी सम्भव नहीं होगा, क्योंकि जिसका पूर्व परिचय है जिसे पहले कभी कहीं देखा, जाना है उसका ही ध्यान किया जा सकेगा । आत्मा अदृश्य, अव्यक्त का कोई कैसे ध्यान कर सकेगा ? यदि ध्येय वस्तु जान लिया है कि वह मैं हूँ तो ध्यान करने की जरूरत ही नहीं । श्रुति तो बताती है कि ज्ञानी ध्याता, ध्यान एवं ध्येय का साक्षी है इसलिये उसे ध्यान की जरूरत नहीं । ध्यान का प्रयत्न करनेवाले मूर्ख ही है – **योगवशिष्ठ अनन्त त्वात्, अनन्तस्थ भ्रान्ति नास्ति च सम्प्रति । अभ्यास भ्रान्तिरखिलं महाचिद्घनामक्षतम् ।।**

आकाश में बादल आते–जाते हैं, आंधी तूफान होते हैं, वर्षा होती है, सूरज की गरमी, चन्द्रमा की शीतलता होती है, इन्द्रधनुष बनता है किन्तु समस्त घटनाओं से आकाश की असंगता ज्यों कि त्यों ही बनी रहती है । इसी तरह आत्म साक्षातकार होने के बाद ज्ञानी भी आकाश की तरह असंग, निर्विकार, निर्लेप अपने को देखता है । देह का जन्म–मृत्यु, रोग, अंग–भंग, देह के बाल्य , यूवा, वृद्धादि षड् विकार होने पर भी ज्ञानी अपने में नहीं मानता है । जब ज्ञानी अपने को देह नहीं मानता, तब देह के धर्म, मनके धर्म भी अपने कैसे मान

सकेगा ? निन्दा, स्तुति भी जो लोग करते हैं, वह देह की क्रियाओं को देख करते हैं । ज्ञानी जगत् को एक स्वप्न से ज्यादा नहीं देखता । ज्ञानी को न तो जन्म दिवस की खुशी होती है और न मृत्यु का भय होता है । ज्ञानी व्यवहार काल में दुष्टता करने वाले लोगों को स्वप्न के लोगों की तरह जान कर उन पर क्रोध नहीं करता है ।

कबीर के जीवन में एक घटना घटी । कबीर के सत्संग में प्रति दिन काशी के लोगों की भीड़ बढ़ने लगी और ब्राह्मणों की धर्म सभा में लोग रुचि कम करने लगे । सभा मण्डप में एक्के–दुक्के आदमी नजर आते थे। ब्राह्मणों ने कबीर को बदनाम करने की युक्ति सोची । इसके लिये एक वैश्या को धन का लोभ दिया व कहा जब बीच बाजार में कबीर संन्ध्या को कपड़ा बेचने आयगा, तू उसको पकड़ लेना छाती से चिपट रोना, चिलाना और कहना की अरे ! तू मुझे व बच्चों को छोड़ इस गाँव में आछुपा बैठा है । वैश्या तैयार हो गई ।

पण्डित लोग छुप कर बैठे थे। कबीर सन्ध्या के समय रोज की तरह काशी के बाजार में चादर बेचने आ खड़ा हुआ और बोल रहा था 'अरे ! कोई रामनाम की चादर लेलो, है कोई काशी के बाजार में' बस वैश्या झपट पड़ी, बोलने लगी अरे कबीरा ! बड़ा भगत् बना राम नाम की धुन लगा चादर बेच रहा है, तू मुझे छोड़ गांव से भाग यहाँ आकर बैठा है, देख मेरे पास न पहनने को है और न खाने को । तू मुझे सोता छोड़ आया, मुझे बताया तक नहीं कि मैं धन्दा करने जा रहा हूँ । तेरे छोटे बच्चे तेरी याद में रोते हैं, मुझसे पूछते हैं मम्मी, हमारे डेडी कब आयेंगे ? मैं उनको कब तक धोखे में रखूँ ? क्या जवाब दे उन्हें चुप करूँ ? कबीर ने हंसते हुए कहा– अरे अब तू आ गई है तो चल मेरे साथ । ये चादर ले, लपेटले, मेरे होते हुए तुझे मैं दुःखी नहीं देख सकता । बाजार में भीड़ जमा होगई, लोग दुकानों से, घर से आगये, कबीर को घेर लिया । कबीर ने तो हाथ पकड़लिया व कहा कि चल ! यहाँ क्यों लोगों को सुना रही है ? अपने घर की बात घर में बैठ

करेंगे । कबीर ने हाथ कसके पकड़ा, वैश्या डर गई, हाथ छुड़ा भी नहीं सकी, क्योंकि पत्नी का अभिनय कर रही थी । भीड़ ने कबीर पर पत्थर फेंके, गाली निकाली, निन्दा की, पर कबीर क्रोधित नहीं हुए । घर ले गये, दरवाजा बंद कर लिया और रोटी बना कबीर ने उसे हाथ से खिलाया । लोग अभी भी बाहर से खिड़की से देख रहे थे । व्यंग कर रहे थे । वैश्या चरणों में पड़ गई मुझे माफ करदो, मेरे अपराध को क्षमा करदो। मैंने चन्द रुपयों के लिये इन दुष्ट ब्राह्मणों के कहने से यह छल किया, मुझे छोड़ दो, मुझे घर जाने दो । कबीर ने कहा कौनसा तेरा घर, जहाँ मैं हूँ वही तेरा घर । बात राजा तक पहुँची । राजा ने कबीर को बुलाया, कबीर उस वैश्या को भी साथ लेगये । राजा ने बुरे शब्दों का प्रयोग कर अपमानित किया । वैश्या ने कहा राजा साहेब ! मेरी भी तो सुनो । कबीर निर्दोष है । मेरा इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, आपके नगर के प्रसिद्ध पण्डित रात मेरे पास रोज आते हैं, उन्होंने मुझे पत्नी का अभिनय कर कबीर को बदनाम कराने के लिये मुझे मजबूर किया और मैंने पैसे के प्रलोभन में आकर ऐसा किया । राजा साहेब ! मुझे कबीर से छुड़ा दो... राजाने कहा अरे ! कबीर जी ! जब यह औरत तेरी नहीं तो बीच बाजार में ही क्यों नहीं छोड़ दिया । कबीर ने कहा मैं आज तक अपनी प्रशंसा–स्तुति का जैसे द्रष्टा रहा तो सोचा कि अब मैं अपनी निंदा का द्रष्टा होकर भी देखलूं ।

राजा ने उसे अपमानित किया व कहा कि तुझे शादि करना था तो किसी कुलीन घर की लड़की से करना था । शादी भी की तो इस नगर नायिका से छी ! छी !

आज भी ज्ञानी के वचनों पर लोग श्रद्धा नहीं करते हैं किन्तु ज्ञानी के देह त्याग होने पर उसके वस्त्र की पूजा करते हैं । मूर्ति बना भोग रखते हैं, जल, दतुन रखते हैं, उनके बाल, नाखुन, चोटी, जनेउ, खड़ाउ, लिगोंट, माला, कुर्ता, धोती पूजा में रखते हैं । इसी तरह राम–कृष्ण के शरीर जो वस्त्र रूप थे उन्हीं की पूजा करते है किन्तु

अमृत आत्मा की कोई पूजा नहीं करते । सब भक्त सिमेन्ट, मिट्टी, लकड़ी, सोना, चान्दी की बनी मूर्ति की पूजा करते हैं । लोग इतना नहीं समझते कि धारण किये मुरली, त्रिशुल, धनुष से कृष्ण, शंकर, राम के शरीर अलग हैं । इसी प्रकार शंकर, राम, कृष्ण के शरीरों को भी धारण करने वाला चैतन्यात्मा उस नाम रूपों से भिन्न ही है ।

मूर्ख लोग ही मुरलीधर, धनुषधारी, त्रिशुलधारी की पूजा करते हैं । जो एक वस्त्र था किन्तु इस वस्त्र को धारण करने वाले शिव स्वरूप आत्मा की कोई उपासना नहीं करते । जन्म दिवस रामनवमी, जन्माष्टमी, शिवरात्रि, दुर्गाष्टमी, गणेश चतुर्थी आदि दिनों का पालन करते हैं जड़ अजन्मा का जन्म उत्सव मनाते हैं । शरीर की मुर्दे की उपासना ही सब ओर बड़े उत्साह पूर्वक धूम धाम से मनाते आ रहे हैं और जब महात्मा लोग दूध मक्खन उछाल रहे हैं तथा होली के नाच गीत करते हैं, तो फिर भोली जनता क्यों न उनके माया खेल में फंसेगी ?

आत्मनः अदृश्यत्वेन – आत्मा अदृश्य होने से उसके लिये ध्यान समाधि साधन भी विक्षेप को उत्पन्न करते हैं । अतः मैंने इन कायिक, वाचिक तथा मानसिक साधन का त्याग कर जैसा मैं हूँ उसी स्थिति में शान्त हो गया हूँ ।

आत्मा अदृश्य, निराकार, अव्यक्त, द्रष्टा है इसलिये वह ध्यान समाधि में भी दिखाई नहीं देती । अज्ञानी मूर्ख उसके ध्यान हेतु आँख बन्द कर घंटों बैठे रहते हैं और केवल अपनी मन की कल्पना को देखते हैं। अरे भैया ! जब तुझे आँख बन्द करके भी रूप देखने की इच्छा है तो फिर तू आँख बन्द ही क्यों करता है एवं आँख बन्द कर प्रकाश ही देखना है तो वह खुली आँख से ही दिखाई पड़ रहा है, जो व्यावहारिक जगत् में उपयोगी भी है । आत्मा दर्शन की वस्तु नहीं है, आत्मा अचिन्त्य है, ऐसा वेद–शास्त्र का एक मत है । यह बात प्रवचनाकार, कथाकार प्रवचनों में वर्णन करते हैं । फिर भी श्रोताओं,

शिष्यों को, उपेदश करते है कि प्रतिदिन ध्यान में कुछ समय अवश्य ही बैठना चाहिये ध्यान बिना आत्म साक्षात्कार नहीं हो सकेगा ।

मुझ आत्मा को वेद नेति–नेति कह कर, अचिन्त्य बताकर चुप हो जाते हैं । अचिन्त्य कहते हैं जिसका चित्त द्वारा चिन्तन न हो सके । तो फिर आत्म चिन्तन कैसे किया जाय ?

चिन्तन चित्त से होता है । यदि चित्त द्वारा आत्म चिन्तन माना जाय तो फिर आत्मा अचिन्त्य नहीं कहा जा सकेगा । चित्त से जो चिन्तन होगा वह मैं आत्मा का चिन्तन नहीं होगा । वह चिन्तन 'यह' रूप दृश्य प्रपंच का होगा, विकल्प का होगा, मिथ्या संसार का चिन्तन होगा । विकल्प चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म उसी का चिन्तन चित्त से होता है ।

विकल्प का चिन्तन भी चित्त से तभी तक होगा जब तक चित्त स्थिर है । चित्त चंचल होते ही चित्त से पैदा किया भगवान भी अदृश्य हो जायेगा । क्योंकि जो चित्त की एकाग्रता द्वारा ही उत्पन्न हुआ था, प्रकट हुआ था वह चित्त के अशान्त होने से अदृश्य भी हो जावेगा । चित्त द्वारा जिस राम, कृष्ण, विष्णु, शंकर, दुर्गा, गणेश, काली आदि देवी – देवता का चिन्तन किया जाता है वह सब प्रपंच का ही चिन्तन है । वह काल्पनिक एवं नश्वर हैं । क्योंकि जिनकी वह चित्रमुर्ति देखी जाती है उन मूर्ति एवं चित्रों का किसी चित्रकार या मूर्तिकार के पास निगेटिव नहीं है, तब वह चित्र उन्हीं देवी–देवता का कैसे माना जा सकेगा ? निगेटिव के बिना जो चित्र मूर्ति बनेगी वह उन कलाकारों के मन की ही कल्पना है । अतः भक्त लोग राम, कृष्णादि का ध्यान तो करते ही नहीं बल्कि काल्पनिक आकारों का ही ध्यान करते हैं । बिना देखी वस्तु या व्यक्ति का ध्यान कभी नहीं किया जा सकता जैसे ''टर्रम्टूं'' को देखा नहीं तो ध्यान भी नहीं हो सकेगा । प्रपंच चित्त द्वारा चिन्त्य है किन्तु मैं आत्मा अचिन्त्य हूँ ।

साधक ने अचिन्त्य का तो **विचार रूप** चिन्तन किया नहीं एवं चित्त चंचल होने से आकार वाले का चिन्तन भी नहीं हो पाता है, तो वह बहुत दुःखी, उदास, निराश, हताश हो जाता है । अचिन्त्य के चिन्तन हेतु मन के चंचल शान्त होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता । कल्पित आकार के चिन्तन में चित्त की एकाग्रता की जरूरत होती है । उसके लिये शान्त वातावरण, आसन, मुद्रा, दिशा, स्थान, समय आदि बातों का ध्यान रखना जरूरी होता है । किन्तु आत्म चिन्तन हर समय, हर स्थान में निरन्तर किया जा सकता है । तभी तो भगवान अपने सर्वाधिक प्रिय भक्त, मित्र, शिष्य अर्जुन को कह रहे हैं –

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च ।। ८/७ गीता

तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।। ८/२७ गीता

अखण्ड चिन्तन सब समय उसी के द्वारा हो सकेगा जो हर काल में विद्यमान रहता हो। अब विचारें कि ऐसी कौन वस्तु है जिसका तीनकाल में अभाव नहीं होता है । '**न अभावो विद्यते सतः**' २/१६ गीता। मैं भूत में था, वर्तमान में हूँ तथा भविष्य में भी मैं रहूँगा । मैं का बोध सर्वकाल में सर्व क्रिया के समय बना ही रहता है, यह ही निरन्तर का आत्म चिन्तन है । चाहे दुकान में बैठ ग्राहकों से बात कर रहे हों, रोगियों को देख रहे हों, कालेज, स्कूल में पढ़ा रहे हों, कोर्ट में अपराधी के बचाव की दलील कर रहे हों, चाहे पुस्तक पढ़ रहे हों, 'मैं हूँ ' का ध्यान कभी नहीं टूटता है।

एक चिन्तन होता है चित्त से जो किया जाता है और एक चिन्तन स्वयं से बिना प्रयास निरन्तर होता है । वही आत्म चिन्तन है । चित्त से चिन्तन किया जायगा वह आत्मा का चिन्तन नहीं हो सकेगा । चित्त का जो चिन्तन होता है, वह विकल्प का चिन्तन होता है । जिसका आकार–प्रकार होता है, उसे विकल्प कहते हैं । स्थूल या सूक्ष्म जो भी पदार्थ हो उसका चिन्तन चित्त से होता है,

चित्त से ही उसका निरोध होता है । चित्त जब चंचल हुआ तो उसका जो वैकल्पिक आकार का चिन्तन था वह फिर लुप्त हो जाता है । मन का बनाया स्वप्न टूट जाता है। जब तक चित्त है, चित्त का निरोध है, वह चिन्त्य का चिन्तन होगा। यह नित्य का चिन्तन नहीं हुआ। जब चित्त ही नित्य नहीं तब उसके द्वारा कल्पित चिन्तन कैसे अखण्ड रह सकेगा ?

ध्यान दें । अचिन्त्य कहते हैं निज आत्म स्वरूप को एवं चिन्त्य कहते हैं प्रपंच को । प्रपंच चिन्त्य है और आत्मा अचिन्त्य है । चित्त द्वारा काल्पनिक पदार्थ का ही चिन्तन तभी तक होगा जब तक चित्त निरोध अवस्था में है । चित्तका निरोध करके ही उसका चिन्तन हो सकेगा अन्यथा नहीं । तात्पर्य यह है कि चित्त द्वारा जिस देवी–देवता का या स्त्री पुरुष का चिन्तन होगा वह नश्वर नाम, रूप का ही होगा । अविनाशी का चिन्तन चित्त कर ही नहीं सकता । मैं आत्मा अचिन्त्य हूँ, यह परप्रकाश चित्त अपने प्रकाशक मुझ स्वयंप्रकाश आत्मा का चिन्तन कैसे कर सकेगा ? परप्रकाश्य पदार्थ अपने प्रकाशक का प्रकाशक कभी नहीं बन सकेगा ?

जगत् प्रकाश्य प्रकाशक रामु ,
मायाधीश ज्ञान गुण धामु ।
सब कर परम प्रकाशक जोई ,
राम अनादि अवध पति सोई ।
परम प्रकाश रूप दिन राति ,
चाहिय नहि दिया घृत बाती । रामायण

जब कोई भक्त अपने मन का निरोध कर अपने इष्ट की कल्पना करता है तब उसका वह कल्पित इष्ट उसके हृदय में प्रकट होता है । उस इष्ट का जीवन आधार उस भक्त के मन पर निर्भर करता है । चित्त चंचल हो जाने से हृदय में प्रकट हुए काल्पनिक इष्ट भगवान भी उसी

प्रकार चले जाते हैं जैसे नींद टूटने से स्वप्न संसार चला जाता है या दीपक के प्रकाश के सम्मुख अन्धकार चला जाता है । जब इष्ट का आधार चित्त ही न रहेगा तो वह बिना आधार के इष्ट कैसे रह सकेगा ? ऐसे ध्यान में तो हृदय में बहुत दुःख होता है, क्योंकि अचिन्त्य आत्मा का तो कभी चिन्तन किया नहीं और जिसका मन द्वारा चिन्तन हो जाता है वह अचिन्त्य आत्मा नहीं है ।

साधक की बड़ी द्वन्द्वात्मक स्थिति बनी रहती है क्योंकि अचिन्त्य का चिन्तन होता नहीं एवं चिन्त्य के चिन्तन में चित्त एकाग्र नहीं हो पाता है । इस तरह दोनों तरफ मुसीबत । ''धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का'' वाली स्थिति हो जाती है । बिना चित्त एकाग्र हुए नाम आकार वाला चिन्तन हो नहीं सकता । साधक को ऐसी स्थिति में ग्लानी होती है । जनक जी कहते हैं इस चिन्त्य अचिन्त्य के द्वन्द्व से मैं निकल आया हूँ और अपने आप में ही स्थित हो चुका हूँ ।

अचिन्त्य का चिन्तन तो वही कर सकता है जिसको अपने आत्म स्वरूप का साक्षात्कार हो चुका है । अचिन्त्य का चिन्तन करने वाला कोई विरला ही व्यक्ति होता है । प्रायः सभी भक्त, मूर्तिकार, चित्रकार के मन से कल्पना की गई चित्र, मूर्ति की ही उपासना करते रहते हैं । चिन्त्य राम, कृष्ण, शंकर, गणेश, दुर्गा, हनुमान को सुनकर ही मान लेते हैं और उनका कल्पित चित्र, मूर्ति देख वैसा ही ध्यान चिन्तन करलेते हैं । किसने देखा है राम, कृष्ण, हनुमान, दुर्गा, गणेश आदि को ? शरीर धारी हैं तो फिर उनकी मुछ, दाढ़ी भी बनाना था । किन्तु भक्तों को लिये सुन्दरता के लक्ष्य से चेहरे चिकना, सुन्दर कैसे दिखाई देगा–यह विचार से उनके चेहरे पर बाल नहीं दिखाये । सबने ही मुर्तिकार के मन कल्पित रूप को ही देखा है । शरीर धारी त्रेता राम व द्वापर के कृष्ण को सुन्दर रूप देने की कोशीश चित्रकारों, मूर्त्रिकारों ने की है किन्तु काल्पनिक वस्तु तो कल्पना ही है । जो मन में चित्त द्वारा कल्पना करली जाती है और

फिर उसका मन ही मन ध्यान चिन्तन होता रहता है । वह आत्म चिन्तन नहीं है । सभी जानते हैं कि फोटो छापने के लिये प्रथम निगेटिव फोटो रील होती है । फिर उसका स्टुडिओ के डार्क रूम में पाजेटिव फोटो बनता है । यदि निगेटिव ठीक से नहीं बना है तो उसका पाजेटिव फोटो नहीं उतर सकेगा । अब विचारों सभी देवी–देवता, भगवान, अवतारों, तीर्थंकरों, सिद्धों की जो छबियाँ निर्मित कर, घर में टांगी या मन्दिरों में रखी जाती है, प्राण प्रतिष्ठा का नाटक कर जिसकी उपासना, स्नान, पूजा आरती, की जाती है, उसकी निगेटिव कहाँ है ? जब निगेटिव नहीं तो सभी फोटो, मूर्ति कल्पना मात्र है । अब अचिन्त्य का स्वरूप कैसा है यह जानने की चेष्टा करेंगे और उसमें स्थिर कैसे रहेंगे इस गंभीर विषय का विचार करेंगे ? अचिन्त्य के चिन्तन के लिये चित्त की एकाग्रता चन्चलता से कोई सम्बन्ध नहीं है । भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को उसी अचिन्त्य के निरन्तर चिन्तन करने का उपदेश करते हैं ।

जब सत्संग में जाते है तब हमें रास्ते का, स्थान का, महात्मा का भान रहता है । दिन, तारीख, समय का भान रहता है । मैं श्रोता हूँ स्वामी वक्ता है यह सब भेद प्रपंच का भान रहता है । यह सब व्यवहार पना परदेश, परभाव प्रकृति है किन्तु प्रवचन श्रवण काल में श्रोता, श्रवण और शब्द इस त्रिपुटी का सर्वदा अभाव हो जाता है । यह है सहजावस्था, यह है सहज समाधि । वहाँ घंटे बैठे सत्संग सुनते रहे न भूख–प्यास लगी, न दर्द का न घर का पता चला ।

जब सत्संग समाप्त हो जाता है तब सत्संग श्रवण के पहले जैसा पर भाव था, देह भाव था, उसकी पुनः स्मृति जाग्रत हो गई किन्तु दोनों अवस्थाओं के बीच सहज पद है ।

'यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधयः ।'

आत्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष की जहाँ भी दृष्टि या वृत्ति जाती है वह अपने अलावा अन्य की कल्पना नहीं करता है वह अपने को मन रूप में, इन्द्रिय रूप में तथा विषय रूप में देखता एवं जानता हैं । अतः मैं आत्मा ही सर्व हूँ, इस दृढ़ निष्ठा का होना ही आत्म चिन्तन है ।

जब आत्मा निराकार, अरूप, अदृश्य, अचिन्त्य, अलक्षण है तो फिर मैं आत्म ध्यान के झंझट में ही नहीं पड़ता । आत्मा तो मन, बुद्धि, इन्द्रियों से पर है, इन्द्रियों द्वारा आत्मा अप्रमेय है । इन्द्रियाँ जड़ है आत्मा चेतन है । इसलिये जड़, अनित्य इन्द्रिय एवं साधन से अतीन्द्रिय, अगोचर, स्वयं प्रकाश, अदृश्य आत्मा का साक्षात्कार कैसे कर सकेंगे ? जैसे प्रकाश द्वारा संसार के पदार्थ दृष्टि गोचर होते हैं अथवा बिजली प्रकाश द्वारा अन्धकार से चलचित्र देखे जाते हैं किन्तु शुद्ध प्रकाश दिखाई नहीं देता । इसी प्रकार आत्मा के प्रकाश में जगत् व्यवहार होता रहता है किन्तु आत्मा किसी को दिखाई नहीं पड़ती । जैसे जिस हाथ द्वारा अन्य वस्तु का ग्रहण होता है, उसी हाथ से उसे पकड़ा, रगड़ा, मसला नहीं जा सकता । इसी तरह आत्म अदृश्य प्रकाश से सब लोक आलोकित होते है किन्तु आत्मा तक सूर्य, चन्द्र, विद्युत, मन, बुद्धि, वाणी आदि की गति नहीं है । उस एक आत्मा द्वारा अखिल ब्रह्माण्ड प्रकाशित होता है किन्तु आत्मा स्वयं प्रकाश है । इस नियम से समझ आगया कि आत्मा को पाने के लिये किसी प्रकार के साधन करने की जरूरत नहीं है । आत्मा साधन साध्य अनित्य पदार्थ की तरह नहीं है । इसलिये उसे पाने के लिये किसी साधन की जरूरत नहीं । अतः मैं अपने स्वरूप में ज्यों का त्यों स्थित हूँ ।

आत्मा के अप्रमेय, अचिन्त्य, अदृश्य स्वभाव के कारण मन में बहुत विक्षेप होते रहते थे कि उस आत्मा का किस प्रकार ध्यान करूँ, उस आत्मा को किस प्रकार प्राप्त करूँ ? नाना प्रकार से उसके लिये ध्यान, समाधि की चेष्टा करते थे, उससे भी बहुत विक्षेप होता था ।

अब उन साधनों से पाने की इच्छा से मेरा मन मुक्त होगया है और अब मैं केवल अपने आप में अर्थात् साक्षी भाव में स्थित हो गया हूँ जो यह मेरा सिद्ध स्वभाव है, जिसे भूल गया था । अब सद्गुरु कृपा से मैंने अपने स्वभाव को पहचान कर उसी में स्थित हूँ ।

सद्गुरु बिना यह गूढ रहस्य को समझना तथा सहज समाधि में सबका प्रवेश होना सम्भव नहीं है । सद्गुरु से सहज स्वरूप की प्राप्ति हो जाने पर व्यावहारिक कर्म व संसार व्यवहार बाधितानुवृत्ति से अज्ञान काल की तरह चलते रहते हैं । अब उन कर्म में सत्य बुद्धि नहीं रहती है ।

जब कही व्यवहार में द्वैत दिखाई पड़े, राग–द्वेष, काम–क्रोध वृत्ति दिखाई पड़े वहाँ तत्काल उस नाम, रूप को मन से हटा 'मैं ही हूँ' इस एटम बम को उस पर फेंक दो, तो तत्काल उस राग–द्वेष वृत्ति का शमन हो जावेगा । **वह मैं ही हूँ** यह ऐसी तीर है कि जहाँ पर फेंका वह वहाँ चकनाचुर ही हो जाता है। यह ऐसा राम बाण, अचुक शस्त्र है, जैसे भस्मासुर जिसके सिर पर हाथ रख दे, वह वहीं भस्म हो जाता था । इसी तरह 'वह मैं हूँ' का तीर ऐसा है, जो शत्रु को तत्क्षण मार भगादेता है । 'मैं ही हूँ ' यह दृढ़ बोध भेद भ्रान्ति का नाशक है । जब भेद प्रतीति न हो तब 'वह मैं ही हूँ' इस चिन्तन करने की भी जरूरत नहीं है । जैसे अधिष्ठान रस्सी से अध्यस्त सर्प की सत्ता पृथक् नहीं इसी तरह मुझ अधिष्ठान आत्मा से अध्यस्त प्रपंच रूप इस जगत् की भी पृथक् सत्ता नहीं है । अस्तु यह प्रपंच मैं ही हूँ, मुझ से यह दृश्य प्रपंच उसी प्रकार भिन्न नहीं जैसे स्वप्न द्रष्टा से स्वप्न नगर भिन्न नहीं होता है ।

हे गुरुदेव ! आपकी कृपा से मैंने अब यह जान लिया कि जिससे जो भ्रान्ति उत्पन्न होती है, उसी के बोध द्वारा उस अध्यस्त वस्तु का, कल्पित वस्तु का अभाव हो जाता है । स्वप्न से उत्पन्न भय का नाशक

स्वप्न का टूट जाना ही एक मात्र साधन है । रस्सी के अज्ञान से उत्पन्न सर्प का भय रस्सी ज्ञान होने से दूर हो जाता है । अन्य अनेक प्रयत्न करने से मन्द अन्धकार में पड़ी रस्सी में सर्पभ्रान्ति बिना प्रकाश के दूर नहीं होती है । इसी प्रकार आत्म अज्ञान से उत्पन्न मन के संकल्प–विकल्पों का दुःख रूप विकल्प संसार मुझ आत्मा के ज्ञान से ही तत्काल अभाव रूप हो जाता है । जैसे प्रकाश के होने से अन्धकार एवं अन्धकार जनित दुःख तत्काल दूर हो जाता है ।

आओ चलें खोजें परमात्मा को

सबसे पहले अपना असली चेहरा खोजो फिर परमात्मा की खोज शुरु करेंगे । ये झूठे चेहरे से सत्य परमात्मा को नहीं खोज सकेंगे । असली चेहरा वह जो जन्म के पहले तुम्हारे पास था और मौत के बाद फिर तुम्हारे पास होगा । यह बीच की भीड़ हटाओ । खुद की किताब को खोलो । जन्म–जन्म बीत गये इस अपने जीवन की किताब को कभी खोल देखा ही नहीं। बाहर के ही शास्त्रों को देखते, पढ़ते, गठरी बांधे लिये चल रहे हो । तुम दूसरों से पूछते फिर रहे हो कि ''मैं कौन हूँ'' ? तुम हो और तुम्हें अपने होने का पता नहीं ? दूसरे तुम्हारे बारे में कैसे ठीक–ठीक बता सकेंगे ? क्योंकि तुम अपने भीतर से जितने नजदीक हो उतना कोई दूसरा तुम्हारे भीतर नजदीक कभी नहीं हो सकता । दूसरे तो केवल तुम्हारे बाहरी शरीर को देख सकेंगे, दृश्य की तरह । किन्तु तुम द्रष्टा अपने प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि को भीतर से दृश्य की तरह देखने में अकेले ही समर्थ हो और द्रष्टा ही तुम्हारा स्वभाव है ।

तो तुम अपने से पूछो कि 'मैं कौन हूँ' ? यह बात केवल शब्द में ही न बोलकर रह जाओ, आँखे बन्दकर भीतर इसकी खोज करें, उतरो गहरे–गहरे और देखते, खोजते चलो । जो–जो तुम्हें दिखाई पड़ जाय उसे भूलते चले जाओ, हटाते चले जाओ, इन्कार करते जाओ कि यह मैं नहीं हो सकता और भीतर गहराई में उतरते चले जाओ क्योंकि इसे मैं जानता हूँ, जानती हूँ । अस्तु जो जो 'यह' रूप में अनुभव में आरहा है, दिखाई पड़ रहा है वहाँ अपने से अपने झुठा अहंभाव, मैं भाव को हटाते चलो । क्योंकि यह मुझे दिखाई पड़ता है,

मैं इसे जानता हूँ । यह मैं कभी नहीं हो सकता जैसे यह मेरा कुत्ता है तो, मैं कुत्ता अपने को कभी नहीं मान सकता ।

सबसे पहले शरीर मिलेगा । लेकिन यह शरीर तो तुम नहीं हो सकते क्योंकि शरीर को तुम मेरा कह कर बताते हो । अतः जो मेरा है, वह मुझसे भिन्न है, पृथक् ही है । जैसे मकान मेरा, कुत्ता मेरा, जूता मेरा, पेन्ट मेरा, यह जैसे तुम से भिन्न है और तुम इनसे भिन्न हो और मेरा कह कर बताते हो, इसी तरह यह मेरा हाथ, यह मेरी टांग, यह मेरा कान । अतः जो 'यह' रूप में है वह आप कैसे हो सकेंगे ? फिर बिमारी या दुर्घटना के समय ये अंग कट जाते हैं, तब भी आप विद्यमान रहते हैं। यदि यह भिन्न–भिन्न अंग आपका परिचय होता तो इन अंगों के कटने से आपका भी अभाव होता चला जाता किन्तु आप ज्यों के त्यों बचे रह जाते हैं गवाह के रूप में और कहते हैं – पहले मेरा हाथ था तो काम हो जाता था, अब मेरा हाथ कट गया, इस तरह आप इन अंगों के भावाभाव के द्रष्टा हैं । यह भी कहते हैं मैं बाल–बाल बच गया। इस कथन से भी स्पष्ट होता है कि अंगों के विक्रत होने पर भी आप निर्विकार बने रहते हैं, क्योंकि आप निरवयव, अशरीरी हैं । तुम्हारे होने का भाव पूरा का पूरा ही बना रहता है ।

तुम अपने शरीर को बचपन से किशोर एवं किशोर से यूवा एवं यूवा से प्रौढ़ और प्रौढ़ से बूढ़ा होते देखते आ रहे हो । तो पांच साल की उम्र से आज ६५–७० वर्ष के समय में कितने परिवर्तन हुए, परन्तु तुम्हारे जानने में तुम्हारे होने में कुछ मोटाई, लम्बाई, वजन का भेद नहीं पड़ा । शरीर में, इन्द्रियों में उनकी कार्य क्षमता में अन्तर पड़ा किन्तु तुम्हारे होने का भाव वैसा का वैसा ही है । शरीर में परिवर्तन होता चला आया । बाल सफेद, चमड़ी लटकने लग गई, झुर्रिया पड़ गई, कमर झुकने लगी, हाथ, गर्दन कांपने लगे, शरीर का आकार लम्बाई, मोटाई, वजन में अन्तर पड़ा लेकिन तुम्हारा होना, जानना वैसा का वैसा ही प्रथम से अभी तक बना हुआ है । तुम ज्ञानरूप, शाश्वत, एकरस ही बने रहे ।

यह निश्चित हुआ कि तुम शरीर नहीं हो, शरीर घूमता हुआ चाक है, तुम अचल कील हो । तो यह अब निश्चित हो गया कि जिसे भी हम दृश्य की भाँति देख लेते हैं हम उससे अलग हैं । जिस–जिस शरीर, प्राण, मन, बुद्धि इन्द्रिय को तुम दृश्य की तरह देख लेते हो तो तुम उससे अलग ही हो । किन्तु अलग होने का बोध नहीं था ।

अब तुम दर्पण के सामने खड़े हो जाओ । दर्पण में तुम्हारा शरीर दृश्य बनता है । उसे देख कह सकोगे कि मैं बस यही हूँ ? यदि दर्पण कोई चुराले जावे तो फिर आपके शरीर का प्रतिविम्ब दर्पण के अभाव में न दिखाई पड़ने से, क्या आप अपने को कोई चोर चुराले गया ऐसा मानेंगे या ऐसा कह सकेंगे कि मेरा शरीर नहीं है? नहीं । यह जो शरीर है इसे और दर्पण के चित्र को देखने वाले दोनों के पार हो । जो दोनों को देख रहा है, वह कौन है ? ऐसा विचार करो । **देख, देख, देखने वाले को तो देख, कि वह देखने वाला कौन द्रष्टा है ?**' '**जान, जान, जानने वाले को तो जान कि वह सबको जानने वाला कौन है** ?'

और भीतर उतरो । फिर वहाँ विचारों की तरंगें हैं उनको भी गौर से देखो । उन्हें भी उठते, बैठते देखते रहो और पूछो कि क्या ''यह मैं हूँ ?'' विचार तो बनते–बिगड़ते, आते–जाते सतत शृंखला चल रही है, धारा बह रही है । इनमें से तुम कोई भी नहीं हो सकते, क्योंकि तुमतो इन विचार धाराओं के देखने वाले अचल, साक्षी बने ही रहते हो । विचार अच्छे–बुरे, प्रेम–घृणा, राग–द्वैष, सुन्दर–असुन्दर, धार्मिक–अधार्मिक, हिंसा–अहिंसा के चलते रहते हैं, लेकिन तुम तो इन दोनों के पार खड़े रहते हो, देखते ही रहते हो, तुम तो साक्षी हो । बचपन से आज तक के परिवर्तनों, घटनाओं एवं सुख–दु:खों के गवाह हो तुम न शरीर हो, न प्राण हो, न इन्द्रियाँ हो, न मन हो, न विचार हो, न भाव हो तुम सबसे पार सबके साक्षी हो ।

अब और भीतर गहराई में अन्तिम तलेटी में पहुँचो जहाँ पर वह सब छूट जाता है जो तुम नहीं हो । बस केवल वही रह जाता है सर्व

साक्षी, सर्व द्रष्टा जो तुम हो । नेति–नेति । यह नहीं, यह नहीं कहते कहते सबको बाहर छोड़ आगये अब तुम अपने घर में । नेती–नेती की सीमा पर पहुँचगये । अब वही बचा जो अभी तक सब दृश्यों को 'नेति–नेति' कह रहा था यही तुम हो । वेद जिसे **तत्त्वमसि** कहकर बताता है । अब तुम्हें अनुभव होगा कि तुम कौन हो ? विचार करने से ही तुम वहाँ पहुँच सकोगे, जहाँ तुम चलकर पहुँचना चाहते थे । विचार से ही मुक्त हो सकोगे, क्योंकि अविचार से ही बन्धन मान बैठे थे ।

❈ 卐 ❈

आत्मा को कैसे जानें ?

खोज अनात्मा की ही हो सकती है । केवल अनात्मा ही एक देशीय, परिच्छिन्न वस्तु होने से उसका लोप हो सकता है । अपरिच्छिन्न, सर्वव्यापक, आकाश की तरह आत्मा का कभी लोप नहीं होता । इसलिए आत्मा की खोज बाहर नहीं हो सकती । आत्मा कभी किसी की खोई नहीं – ''मृग कस्तूरी वत्'' इसलिए उसे कभी खोजा नहीं जा सकता । आत्मा सदैव स्वयं प्रत्यक्ष होने से स्वयं अपने आप में प्रकाशित है । किसी भी वस्तु को जानने के लिए आत्मा का होना अनिवार्य है । आत्मा सुस्पष्ट है । आत्मा होकर क्यों नहीं रहते ? अनात्म तत्त्वों का चिन्तन तथा शास्त्रों के शब्द जालों में फँसने की क्या जरूरत ।

नगर, ग्राम, देश की दूरी तो तुम बता सकते है कि वे तुमसे कितने दूर है । किन्तु क्या तुम यह भी बता सकते हो कि तुम, तुमसे कितने दूर हो ? तुम आत्मा से कितने दूर हो ? परमात्मा से कितने दूर हो, जिसे तुम खोज रहे हो ?

पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति जैसी नहीं है । पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति तो प्राप्त वस्तु की प्राप्ति है । जब ब्रह्म को अखण्ड आप स्वीकार करते हैं, तब क्या अखण्ड एवं पूर्ण ब्रह्म से आप पृथक् रह सकते हो, यदि उससे पृथक् मानते हो तो क्या वह पूर्ण होगा ? क्या उसके बिना तुम्हारा अस्तित्व है ? याद रखो ! तुम भी उससे पृथक् नहीं हो । यह कोई वस्तु नहीं जिसकी प्राप्ति करना है । केवल इसके अस्तित्व का होश करना है ।

वस्तुतः तुम आत्मा हो । किन्तु आत्मा भूल स्वयं को स्थूल देह से तादात्म्य कर अपने को जन्म–मृत्यु रूप मान रहे हो । देह का मूल मन एवं मन का मूल स्वयं आत्मा है । यदि यह आत्मा का अनात्म देह से मिथ्या सम्बन्ध टूट जावे तो, शान्ति एवं अखण्डानन्द प्रकट हो जावे ।

जब तक तुम अपने को एक निश्चित आकार मानोगे तभी तक दुःख रहेगा । उस आकार देहभाव से पृथक् होने पर यह अनुभव होगा कि तुम आत्मा अमर हो । यहाँ न मृत्यु है, न जन्म । देह का ही जन्म होता है एवं देह की ही मृत्यु होती है । यदि अज्ञानी मनुष्य देह के जन्म को अपना जन्म मानता है तो उस देहाभिमानी की मृत्यु होगी । उसको मृत्यु का भय बना रहेगा । जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु अनिवार्य है । आत्मा का न उदय होता है न अस्त, वह तो नित्य है । वही तुम हो ।

आत्मा तुम नित्य हो, कभी उससे दूर नहीं, वह कभी तुम्हें अप्राप्त नहीं है । केवल इस भ्रान्ति से मुक्त होना है कि मुझे आत्मदर्शन, आत्म–साक्षात्कार, मुक्ति या परमानन्द अभी प्राप्त नहीं है ।

जो अभी और यहीं तुम्हारे रूप में है वह सत्य है, वही आत्मा है, और यही साक्षात्कार है । यदि अभी, यहाँ, तुम्हारे रूप में नहीं बल्कि कभी, कहीं एवं अन्य रूप में साधन, प्रतीक्षा, प्रार्थना द्वारा प्राप्त नवीन वस्तु है, तो फिर उसकी उपादेयता भी क्या ? जो स्थायी है, वह शाश्वत है । वही नित्य है, वही आत्मा है, और वही तुम हो । केवल सद्गुरु प्राप्ति से ही यह ज्ञात होता है । आत्मा पूर्व से प्राप्त है किन्तु अज्ञान से आवृत (ढका) था । अब वही आत्मा सद्गुरु कृपा से अनावरित हो नूतन वस्तु प्राप्ति की तरह प्राप्त हुआ–सा प्रतीत होने लगता है । वस्तुतः यह नवीन नहीं है । जिसका उदय नहीं होता

उसका अस्त भी नहीं होता । वह है और सदा रहेगा । यही वास्तविक 'मैं' है, पूर्ण 'मैं' अथवा आत्मा का साक्षात्कार है ।

ऐसा कोई क्षण नहीं, जब चेतना रूप आत्मा का अस्तित्व न हो । द्रष्टा आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । उसकी उपस्थिति के बिना कोई दृश्य का दर्शन नहीं हो सकता । मन में फुरना भी नहीं हो सकती ।

द्रष्टा स्वयं के दर्शन में असमर्थ है । आँखों से स्वयं को प्रत्यक्ष न देख पाने पर भी क्या द्रष्टा अपने अस्तित्व को इन्कार करने में समर्थ है ? नहीं । इस प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन का अर्थ दर्शन नहीं, अपितु अस्ति – 'होना' है, 'होना' ही साक्षात्कार है । ''मैं हूँ, यही मैं हूँ '' I AM THAT I AM 'मैं हूँ' यही शिव है । बिना कल्याण स्वरूप आत्मा के कुछ भी शरीर में हलचल, चेतना, क्रिया सम्भव नहीं । प्रत्येक वस्तु एवं क्रिया की सत्ता प्रतीति शिव स्वरूप आत्मा से है ।

अतः विचार करो ''को हम् ?'' ''सोऽहम्'' का निश्चय कर आत्म रूप से रहो । यह, वह होने की इच्छा न करो । आत्म साक्षात्कार, ईश्वर दर्शन, ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा मत करो। तुम आत्मा के अभाव में रह ही नहीं सकते । आत्मा का साक्षात्कार सर्वदा इसी क्षण और यहीं सम्भव है । तुम्हारा यह विचार, यह भ्रान्त धारणा कि साक्षात्कार नहीं हुआ है, यही आत्म साक्षात्कार में बाधक है । इस गलत विचार के परित्याग से ही आत्मा साक्षात्कार सम्भव हो जावेगा । शिव से पृथक् हो शरीर के लिए जीवित् रहना क्या सम्भव हो सकता है ? बिना आत्मा के, अस्तित्व के तुम्हारा शरीर एक क्षण भी नहीं रह सकता । किसी भी जीव के लिए एक भी क्षण असाक्षात्कार का हो तो साक्षात्कार का प्रश्न उठे । आत्मा से शून्य तुम एक क्षण भी नहीं हो । आत्मा सर्वदा प्रत्यक्ष है । ऐसा कोई प्राणी नहीं जो चैतन्य न हो । कोई भी नहीं जो शीव न हो । प्रत्येक जीव शिव है, शिव ही जीव है । चाहे उसे

अपने या अन्य के शिव स्वरूप का भान हो या न हो, किन्तु यहाँ एक ब्रह्म के अलावा अन्य किसी की भी सत्ता नहीं है । कोई भी संज्ञा प्रदान करे, शिव चेतना ही है । आत्मा ही है, तुम ही हो । चेतना से शून्य क्या कोई भी है ? इस प्रकार क्या कोई है जो साक्षात्कार युक्त न हो ? अतः आत्म साक्षात्कार की इच्छा कभी मत करो । यदि मुझे अपना होना 'स्व' प्रत्यक्ष नहीं एवं किसी अन्य से प्रमाणित कराना पड़ता हो, तभी शिव का साक्षात् नहीं है, ऐसाह कहा जा सकेगा । शिव और मैं, मैं व शिव दो तत्त्व नहीं । शिव से तात्पर्य आनन्द की मूर्ति, कल्याण की मूर्ति, आत्मा । यदि दर्शन का अर्थ कल्पित चित्र, मूर्ति के दर्शन है उन दर्शनों से तो दर्शन न होना ही उत्तम है ।

कर्म से, साधन से प्राप्त पदार्थ फसल की तरह नाशवान होता है । यदि किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति होती है, तो पूर्व उसका अभाव होना निश्चित है । जो वस्तु पूर्व में नहीं थी, उसकी प्राप्ति कर ली गई, तो भी वह कालान्तर में जाकर नष्ट हो जावेगी । इस प्रकार यदि मोक्ष को किसी कर्म, भक्ति, योग अथवा ज्ञान साधन द्वारा नूतन रूप से प्राप्तव्य स्थिति या लोक विशेष मानेंगे तो वह भी नाशवान ही होगा । जैसे अस्थायी स्वर्ग, बैकुण्ठादि लोकों की तरह । किन्तु मोक्ष स्थायी है, चूँकि आत्मा यहीं है, अभी है तथा तुम हो क्योंकि यह अखण्ड है ।

अपने स्वयं प्रकाश आत्मा के अस्तित्व का निर्णय करने के लिए किसी दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है । अहंकार से उत्पन्न पर प्रकाश्य मन, बुद्धि तथा इन्द्रिय, आत्मा को प्रमाणित करने में समर्थ नहीं हो सकते । आत्मा ही उनका आधार है । आत्मा से पृथक् स्वतंत्र उनका अस्तित्व नहीं है ।

साक्षात्कार क्या है ? क्या शंख, चक्र, गदा, पद्म विभूषित चतुर्भुज मूर्ति अथवा धनुष वाण, मुरलीधारी भगवान ? यदि इस रूप में दर्शन हो जावे तो भी नमस्कार कर आगे बढ़ जाना । क्योंकि जो

तुम्हारे इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष हो जाता है, वह परमात्मा कभी नहीं हो सकता । ऐसे दर्शन से अज्ञान का निवारण नहीं हो सकता । अज्ञान से उपस्थित कल्पित आकृति अज्ञान का नाश नहीं कर सकेगी । शिष्य का अज्ञान यही है कि उसे इस तत्त्व का ज्ञान नहीं कि सभी जीव आत्म साक्षात्कार युक्त है । आत्मा से पृथक् रहना किसी के लिए सम्भव नहीं है । सद्गुरु इसी भ्रान्ति का निराकरण करा देने के लिए हैं कि बन्ध कहाँ है ? आत्मा भिन्न कहाँ है ? तुम ही नित्य, मुक्त, साक्षात् आत्मा हो । मुक्ति भविष्य में प्राप्त होनेवाली नहीं है । वह सदा के लिए है, यहीं, अभी और तुम्हारे रूप में है । अपने अस्तित्व को कोई इन्कार नहीं कर सकता कि मुझे अभी अनुभव नहीं हो रहा है । अनुभव (आत्मा) यहाँ, अभी और तुम्हारे रूप में विधमान है ।

''मैं देह हूँ'' यह भाव, व्यक्ति को महान् पापी एवं अपराधी बना देता है । ''मैं आत्मा हूँ'' के स्थान पर ''मैं देह हूँ'' मानने वाला व्यक्ति आत्मा हत्यारा है । ''मैं आत्मा हूँ'' यह अनुभव ही उत्कृष्ट तपस्या, भक्ति, योग एवं ज्ञान है । एक क्षण का यह स्वरूप भान सर्व संचित् कर्मों को भस्मीभूत कर देता है । यह आत्म भाव समस्त अनादि पाप राशि को इस प्रकार समाप्त कर देता है जैसे करोडों वर्षों का गहन गुफा अन्धकार सूर्योदय के साथ ही तिरोहित हो जाता है ।

नहि असत्य सम पातक पुंजा, धर्म न दूर सत्य समाना

चेतना ही व्यक्ति का स्वरूप है । चेतना ही शिव है । उसके बिनाह यह शरीर शव है । चेतना ही आत्मा है और जिसका प्रत्येक व्यक्ति को बोध है, कि मैं चैतन्य हूँ । मैं जड़ नहीं हूँ । आत्मा से पृथक् कोई नहीं है । इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति आत्मोपलब्धियुक्त है । तथापि कैसी विडम्बना है कि इस मूलभूत तथ्य का किसी को भी भान नहीं है । इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति आत्मोपलब्धि की आकांक्षा में नाना साधन करता रहता है । आत्मोपलब्धि नहीं है, इस महाभ्रान्ति से निवृत्त

होना ही आत्मोपलब्धि है । आत्मोपलब्धि किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति नहीं है । शाश्वत, नित्य होने से उसकी प्राप्ति हेतु किसी भी प्रकार का साधन आवश्यक नहीं है ।

साधन से नहीं सिद्ध आत्मा, स्वयं सिद्ध है आप रे ।।

''मैं देह हूँ'' अथवा मैंने आत्मा की प्राप्ति नहीं की है, ऐसी भ्रान्त धारणाओं से निवृत्त होते ही परम चेतना अथवा आत्मा ही शेष रह जाती है । जिसे शिष्य ज्ञान की वर्तमान अवस्थ में आत्मोपलब्धि की संज्ञा प्रदान करता है । वस्तुतः सत्य यह है कि आत्मा साक्षात्कार, आत्म प्राप्ति, चिरन्तन है तथा अभी इसी क्षण सर्वत्र विधमान है ।

लक्ष्य न तो तुम से पृथक् है, न नवीन रूप से प्राप्त होने का विषय है । यदि ऐसा न होता तो यह लक्ष्य मोक्ष स्थायी न होता, न प्राप्त करने योग्य होता । जो नवीन रूप से प्रकट होगा, वह लुप्त भी अवश्य होगा । लक्ष्य आत्मा तो नित्य तथा अन्तस्थ ही हो सकता है ।

यदि तुमने अपने अस्तित्व का साक्षात्कार नहीं कर लिया है तो तुम यह किस प्रकार जानते हो कि तुम्हारा अस्तित्व है ? तुम्हारा होना ही आत्म साक्षात्कार है । तुम ऐसे क्षण की कल्पना भी नहीं कर सकते, जब तुम्हारा अस्तित्व नहीं रहता। तुम्हारे बिना किसी देश, काल व वस्तु की सिद्धि भी नहीं हो सकेगी । अतः ऐसा कोई व्यक्ति नहीं तथा ऐसा कोई काल नहीं, जिसे साक्षात्कार नहीं होता । साक्षात्कार का अर्थ है आत्मा की पूर्णता का बोध । आत्मा की शाश्वतता का बोध । साक्षात्कार तो आत्मा है । आत्मा से रहित होकर तुम रह ही नहीं सकते । आत्मा तो सर्वथा सबके साक्षात्कृत ही है । केवल तुम इस तथ्य से अनभिज्ञ हो कि मैं साक्षात् आत्मा हूँ । इतना ही तो अन्तर है, आत्म साक्षात्कार एवं आत्मा का असाक्षात्कार में । तत्व दृष्टि से भेद नहीं है मात्र जानने एवं नहीं जानने का ही अन्तर है ।

जैसे किसी की जेब में रूपया हो और वह उसे इधर–उधर खोजे, लोगों से पूछे कि क्या तुमने मेरे १०० रूपये के नोट को देखा है ? तब वह कहे कि देखो शायद आपके जेब में हो, और वह खोजने से जेब में मिल जावे तो बिना खोये की यहाँ प्राप्ति हुई । जिसे हम प्राप्तस्य प्राप्ति कह सकेंगे । इसी प्रकार आत्मा सदा साक्षात् है । साक्षात्कार अभी अज्ञानता के कारण आच्छादित है । सद्गुरु की कृपा से देह भ्रान्ति हट जाने पर, सर्वदा साक्षात्कृत आत्मा को पुनः प्राप्त होने जैसा जान प्रसन्न होता है ।

अज्ञान नाश ही आत्म–साक्षात्कार है । आत्म साक्षात्कार को केवल औपचारिक जानो । अविधा–नाश को आत्म साक्षात्कार की सम्मानित संज्ञा प्रदान कर दी गई है जैसे विधवा स्त्री की असधवा सम्मानित संज्ञा है ।

तुम आत्मा हो तथा साक्षात् भी हो । इसमें फिर 'कार' हेतु कहाँ कर्त्तव्य है ? आत्म साक्षात्कार कैसे हो ? यह जिज्ञासा से प्रतीत होता है कि तुम स्वयं को आत्मा नहीं, बल्कि देह मानते हो एवं आत्मा को कोई भिन्न वस्तु मानते हो । तभी यह प्रश्न करते हो कि मुझे आत्म साक्षात्कार कब होगा ? क्या आत्मा दो हैं जो तुम्हें प्राप्त हो सकेगी ?

किसी वस्तु को अन्धकार में खोजने हेतु प्रकाश की जरूरत होती है । किन्तु स्वयं के अस्तित्व के लिए दीपक की जरूरत नहीं । इससे सिद्ध होता है कि तुम स्वयं प्रकाश हो । तुम सत्, चित से अन्यथा कुछ नहीं हो सकते । ऐसा नहीं होता तो तुम यह कहने में भी सक्षम न होते कि आत्मा का अस्तित्व नहीं है । नहीं कहने में भी आत्मा का विद्यमान होना सिद्ध हो जाता है ।

आत्मा सदा साक्षात् है । उसकी प्राप्ति का प्रयास व्यर्थ है । जो पहले ही सर्वदा साक्षात् है उसका 'कार' का प्रश्न ही नहीं उठता । तुम्हारी सत्ता का तुम निषेध करने में समर्थ नहीं हो । तुम्हारी सत्ता ही

न हो तो तुम प्रश्न करने में भी समर्थ नहीं । अस्तु तुम्हें स्वयं की सत्ता को स्वीकार करना ही होगा । यह स्व सत्ता, स्व अस्तित्व ही आत्मा है । यही अभी भी साक्षात् है । अतः साक्षात् करने का मतलब है कि साक्षात् नहीं हुआ है, इस भ्रान्ति को दूर करना मात्र है । आत्मा का अनावरण होना ही आत्म साक्षात्कार है । स्वयं को खोजे बिना ही तुम आत्मा हो ।

जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैंठ ।

स्वयं अस्तित्वबान् होते हुए स्वयं को परित्याग कर बाह्य वस्तुओं की ओर तुम क्यों उन्मुख हो रहे हो ? आत्मा सर्वदा सभी को साक्षात् रहती है । बाधा केवल देहाभिमान के कारण है ।

तुम न देह हो, न मन–बुद्धि, चित्त, अहंकार हो । न अन्य कोई चिन्तनीय वस्तु हो । तुम स्वयं वही आत्मा हो, जिसका अनुसन्धान, प्राप्ति या साक्षात्कार करना चाहते हो । स्वयंवर में कन्या अपने पति को बताने के लिए, प्रत्येक व्यक्ति को 'नहीं' 'नहीं' कहती जाती है, किन्तु जब वह अपने वांछित व्यक्ति के समक्ष होती है तब वह दृटि को झुका कर मौन हो जाती है । अस्तु 'नेति–नेति' क अवधि का जो साक्षी है वह साक्षात् आत्मा तुम हो ''**तत्त्वमसि**'' ।

इस ग्रन्थ का अधिकारी

सौबलबीजब्रह्मोपनिषन्नाप्रशान्ताय दातव्या नापुत्राय नाशिष्याय नासंवत्सररात्रोषिताय नपिरज्ञातकुलशीलाय दातव्या नैव प्रवक्तव्या।

यस्य देव परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन ।।
इत्येतिन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ।१**।** सुबालोपनिषत्

यह ब्रह्म का उपदेश उसे नहीं देना चाहिये जो अत्यन्त शान्त न हो, जो पुत्र न हो, शिष्य न हो और एक वर्ष तक पास न रहा हो । ऐसे अनजान कुलशीलवाले को भी नहीं देना और सुनना चाहिये । क्योंकि जिसकी परमात्मा के ऊपर और परमात्मा के समान गुरु के ऊपर परमभक्ति हो उसी के लिये ये अर्थ कहे गये हैं । ऐसे महात्मा को ही यह ज्ञान प्रकाशित करते हैं । ऐसा यह मोक्ष का उपदेश है, वेद की शिक्षा है और वेद आज्ञा भी है ।

फल :

इस प्रकार जो साधक इस अद्भूत, अनुपम, '**विचार ही मार्ग**' ग्रन्थ को एकाग्रता से, श्रद्धा पूर्वक पठन करेगा और अपने जीवन में धारण करेगा, उसके सभी संचित, शुभाशुभ कर्म ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाएगें और वह जीवनमुक्ति को प्राप्त हो सकेगा ।

मैं मन का द्रष्टा कहाय, मैं मन का द्रष्टा कहाय
विक्षेप समाधि सारे द्वन्द को, देखे और दिखाये ।
मैं मन का द्रष्टा कहाय...
मैं जगदिश जगत् भी मैं ही, मुझ से बड़ा ना कोय
संकल्प फुरना जब जब होय, जगरचना तब होय
उत्पत्ति स्थिति सृष्टि प्रलय का, मैं कारण कहाय
मैं मन का द्रष्टा कहाय...
कीट से ले ब्रह्मादि जगत का, मैं ही एक आधार,
जिमि फेन तरंग, हिम बुद बुदा जल नाना रूप पसार
तिमि जग जगदिश अभिन्न जानो, मेरा जग विवर्त कहाय
मैं मन का द्रष्टा कहाय...
मन ब्रह्मा मन ही विष्णु, मन ही शंकर जान
मन एकाग्र जब जब होय, तब आनन्द महान
मैं ब्रह्म इस निर्मल ज्योति पर, देह धुल न जमने पाय
मैं मन का द्रष्टा कहाय...
भले बुरे मन के कर्मों का, मैं ही देखन हार,
मुझसे कोई बात छुपे ना, मैं सब जानन हार
तन को चाहे, मार ले कोई, मुझ को मार न पाय
मैं मन का द्रष्टा कहाय...
ब्रत कर तन कृश कर ले कोई, मन कृश कबहु न होय
मन नहीं मैं मन का साक्षी, मन का मारन सोय
कहत शान्ता साक्षी भाव कर, जग से मुक्ति पाय
मैं मन का द्रष्टा कहाय...

स्वामी निरंजन ग्रंथावली

१. शान्तिपुष्प
२. भूली बिसरी स्मृति
३. सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी-१
४. सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी-२
५. सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी-३
६. सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी-४
७. मैं अमृत का सागर
८. मैं ब्रह्म हूँ
९. प्राणायाम,मुद्रा, ध्यान एवं वेदान्त पारिभाषिक शब्दकोश
१०. सीता गीता
११. राम गीता
१२. गुरु गीता
१३. पंचदशी प्रश्नोत्तर दीपिका
१४. भागवत रहस्य
१५. आत्म साक्षात्कार
१६. मन की जाने राम
१७. योग वशिष्ठ सार
१८. निरंजन भजनामृत सरिता
१९. स्वरूप चिन्तन
२०. कर्म से मोक्ष नहीं
२१. श्रद्धा की प्रतिमा सद्गुरु
२२. अमृत बिन्दु
२३. उपनिषद् सिद्धान्त एवं वेदान्त रत्नावली
२४. सहज समाधि
२५. ज्ञान ज्योति
२६. कबीर साखी संकलन
२७. सहज ध्यान
२८. हे राम ! उठो जागो
२९. सद्गुरु कौन ?
३०. श्रीराम चिन्तन
३१. तत्त्वमसि
३२. साक्षी की खोज
३३. आत्मज्ञान के हीरे मोती
३४. अनमोल वचनामृत
३५. लाख रोगों की एक दवा
३६. हंस गीता
३७. आत्मज्ञान के लिये उपयोगी चित्रावली
३८. अष्टावक्र गीता सार
३९. अष्टाबक्र महागीता
४०. आत्म गीता (भगवद् गीता सार)
४१. शिव गीता
४२. आत्म प्रबोधक संहिता
४३. ज्ञान विना मोक्ष नहीं
४४. विचार ही मार्ग
४५. केवल विस्मृति

अधिक जानकारी तथा ग्रन्थ प्राप्ति के लिये सम्पर्क करें :
प्लट नं : **58/60**, दिव्य विहार, सामन्तरायपुर, भुवनेश्वर-2 (उड़िशा)
फोन नं : **9437006566**
Visit us at : www.niranjanmission.org